श्रीरामकृष्ण-विवेकानंद भावधारा की एकमात्र हिंदी मासिकी

# विवेक शिखा

वर्ष-९ दिसम्बर-१९९० अंक-१२

# विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

५१. श्री बी० शी० नागोरी—कलकत्ता (पं० बंगाल)
५२. श्री पवन कुमार वर्मा – समस्तीपुर (बिहार)
५३. श्री बिनुभाई भलाभाई पटेल –खेड़ा (गुजरात)
५४. श्री एस० सी० डाबरीवाला –कलकत्ता (प० बं०)
५५. श्री गोपाल कृष्ण दत्ता - जयपुर (राजस्थान)
५६. श्री बृजेश चन्द्र बाजपेयी – जयपुर (राजस्थान)
५७. श्री बनवारी लाल सर्राफ—कलकत्ता (प० बं०)
५८. श्रीमती गौरी चट्टोपाध्यायएलेन गंज, इलाहाबाद
५९. श्री वसन्त लाल जैन - कैथल (हरियाणा)
६०. डॉ० श्यामसुन्दर बोस - दूधपुरा बाजार (समस्तीपुर)
६१. श्री केशव दत्त वशिष्ठ –हिसार (हरियाणा)
६२. श्री के० सी० बागरी—कलकत्ता (प० बंगाल)
६३. मधु खेतान—कलकत्ता (प० बंगाल)
६४. प्रधान अध्यापिका—डोरांडा गर्ल्स हाई स्कूल, रांची
६५. रामकृष्ण मिशन स्टूडेन्ट्स होम—मद्रास
६६. श्री विनयशंकर सिन्हा—दाऊदपुर, छपरा
६७. रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम—इलाहाबाद
६८. श्रीमती मीरा मित्रा—इलाहाबाद
६९. स्वामी शान्तिनाथानन्द – रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद
७०. श्रीमती उषा श्रीकांत रेगे—दादर, बम्बई
७१. कुमारी इन्दु जोशी उत्तरकाशी (उ० प्र०)
७२. श्री के० अनूप—रोइंग (अरुणाचल प्रदेश)
७३. गंगा सिंह महाविद्यालय—छपरा (बिहार)
७४. डॉ० उषा वर्मा छपरा (बिहार)
७५. श्री विजय कु० प्रभाकर राव शंखपाल (महाराष्ट्र)
७६. श्री विजय कुमार सिंह, झुमरीतिलैया (बिहार)
७७. श्री रघुनन्दन सेठी कोटा, (राजस्थान)
७८. श्री भृगुनाथ प्रधान, जमशेदपुर (बिहार)
७९. डॉ० अमरेन्द्र कुमार सिंह, छपरा (बिहार)
८०. श्री रविशंकर पारीक ललित, जयपुर (राजस्थान)
८१. श्री सनत कुमार दुबे सिवनी मालवा (म प्र०)
८२. डॉ. आशीष कु. बनर्जी-रामकृष्ण मिशन, वाराणसी
८३. श्री चन्द्र मोहन—टुंडला (उ. प्र.)
८४. श्री बी. एल गुप्ता—मानवार (म. प्र.)
८५. डॉ. टी. जे. हेमनानी – नागपुर (महाराष्ट्र)
८६. डॉ. एस. एम. सिंह—इलाहाबाद
८७. श्री श्याम सुन्दर चमरिया—बम्बई
८८. श्री जयप्रकाश गुप्ता—परौना, सारण (बिहार)
८९. श्री अमरेश कल्ला जयपुर, (राजस्थान)
९०. श्री प्रफुल्ल तुंगारे - पुणे (महाराष्ट्र)

# इस अंक में

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

# विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष — ९ १९९० — दिसम्बर अंक — १२

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविरल विमल 'विवेक शिखा' ॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

| | |
|---|---|
| आजीवन सदस्य | ३०० रु० |
| वार्षिक | २५ रु० |
| रजिस्टर्ड डाक से | ४० रु० |
| एक प्रति | ३ रु० |

रचनाएं एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने को कृपा करें।

## श्रीरामकृष्ण ने कहा है

( १ )

प्रत्येक वस्तु नारायण है। मनुष्य नारायण है, पशु नारायण है, साधु नारायण है, लम्पट भी नारायण है। जो कुछ है, सब नारायण ही है। नारायण विभिन्न रूपों में लीला करते हैं। सब उन्हीं के भिन्न-भिन्न रूप हैं, उन्हीं की महिमा का प्रकाश है।

( २ )

जमींदार कितना भी रईस क्यों न हो, पर जब कोई दीन प्रजा उसे प्रेम के साथ कोई सामान्य वस्तु भेंट देती है तो वह उसे आनन्द-पूर्वक स्वीकार करता है। इसी प्रकार, यद्यपि ईश्वर अत्यन्त महान् और सर्वशक्तिमान् हैं, तथापि वे मनुष्य की श्रद्धापूर्वक दी हुई नगण्य भेंट को भी बड़े प्रेम से ग्रहण करते हैं।

( ३ )

गहरे ध्यान में मनुष्य बाह्यज्ञान रहित हो जाता है। ध्यान में इतनी एकाग्रता आ जाती है कि दूसरा कुछ भी दिखाई-सुनाई नहीं देता, यहाँ तक कि स्पर्श का भी बोध नहीं रहता। इस समय यदि देह पर से साँप भी चला जाए तो न तो जो ध्यान् कर रहा है उसे पता चलता है और न उस साँप को ही।

( ४ )

ईश्वरनिर्भरता कैसी होती है ? जैसे कड़ी मेहनत करने के बाद तकिए से टेककर बैठे हुए आराम से हुक्का पीना। अर्थात् किसी तरह की फिक्र नहीं है, जो करना हो ईश्वर ही करेंगे, यह भाव।

# दो भजन

जगत जननी सारदे

—ब्रह्मलीन सारदातनय

( मिश्र काफी-रूपक )

कर कृपा संतान पर अब जगत जननी सारदे ।
दिव्य दरशन दान कर सब शोक मोह निवार दे ॥
भ्रान्ति-बन्धन-मुक्ति सारी
जननि लीला है तुम्हारी
कौन पावे पार भव में जो न तू आधार दे ॥
तुम परम करुणामयी हो
तनय प्रति ना निर्दयी हो
शरण दे निज चरण में अब, घोर भवजल तार दे ॥
जगत जननी सारदे ।

( २ )

# लो चरण में प्रणाम

(गौड़ सारंग-झपताल)

माँ सारदे लो चरण में प्रणाम ।
निज पुत्र प्रति मात होओ न वाम ॥
मैं मन्दमति दीन साधन-भजन-हीन ।
चित्त है विषयलीन, माँ अष्टयाम ॥
हर घोर भव भ्रान्ति, दरसा विमल कान्ति ।
दो माँ परम शान्ति, हो भव-विराम ॥
अब ना करो देर, करुणानयन फेर
ले चल मुझे मात आनन्द धाम ॥

[रामकृष्ण मठ, नागपुर में कार्यरत स्वामी वागीश्वरानन्दजी महाराज विवेक शिखा के लिए सारदातनय के नाम से भजन लिखा करते थे। दुःख है कि गत ४ नवम्बर, १९९० को अकस्मात् वे श्रीमाँ सारदा देवी के आनन्द-लोक में शाश्वत रूप से लीन हो गये।—सं०]

सम्पादकीय सम्बोधन

# श्रीमाँ सारदा देवी

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

मेरा हृदय भर आता है, जब मैं माँ का —श्रीमाँ सारदादेवी का —चिंतन-अनुचिन्तन, ध्यान-अनुध्यान करने लगता हूँ।

माँ —इस परम पावन एकाक्षर शब्द पर ध्यान करते-करते मैं प्राय: आत्मस्थ हो जाता हूँ। माँ— विश्व का यह पवित्रतम शब्द है। सृष्टि का यह परम मनोरम, हियहारी, शान्ति-दायक संगीत है। इसी से भगवान् शिव के डमरू से निनादित सप्त स्वरों के केन्द्र में 'म' है, जो माँ का प्रतीक है। सारा जगत् इस मातृ-संगीत से ओतप्रोत है। प्रातः कालीन पक्षियों की चहचहाहट में, भौंरों की गुनगुनाहट में, पत्तों की मर्मराहट में, मेघ के गर्जन में, सागर के ज्वार-भाटों में, वासंती समीर और भैरवी मुद्रा में बलखाती नाचती आँधी में एक ही ध्वनि—माँ-माँ की ध्वनि उठती-गिरती गूँजती-थिरकती सुनाई पड़ती है। सर्वत्र एक ही नाद है—माँ ? सर्वत्र एक ही पुकार है—माँ। निश्चय ही यह निखिल जगत् उस चिन्मयी माँ का ही विराट् आत्म प्रसार है। इसी से देव्यथर्वशीर्ष में देवी कहती हैं - अहमानन्दानानन्दौ। अहं विज्ञानाविज्ञाने। अहं ब्रह्माब्रह्मणी वेदितव्ये। अहं पंचभूतान्यपंचभूतानि। अहमखिलं जगत्। अर्थात्, मैं आनन्द और अनानन्दरूपिणी हूँ। मैं विज्ञान और अविज्ञानरूपा हूँ। जानने योग्य ब्रह्म और अब्रह्म भी मैं ही हूँ। पंचीकृत और अपंचीकृत महाभूत भी मैं ही हूँ। यह सारा दृश्य जगत् मैं ही हूँ।

श्रीमाँ सारदा उसी ब्रह्ममयी आद्याशक्ति की साकार प्रतिकृति हैं, उसी चिन्मयी सत्ता की परमपावनी ब्रह्मवारि स्वरूपा करुणा की मूर्ति हैं। उनमें एक साथ ही पार्वती की पवित्रता और तप: परायणता, सीता की धीरता और तितिक्षा, सावित्री की साहसिकता और दमयन्ती की मानवीयता समाहित हो गयी थीं। अनन्त-अनन्त सद्गुणों की शतवर्तिका थीं माँ। माँ का अर्थ ही है सद्गुणों की पुष्पित वल्लरी। इसी से माँ केवल माँ थीं—सत् की माँ और असत् की भी माँ; ज्ञानी की माँ और मूर्ख की भी माँ, ब्राह्मण की माँ और चाण्डाल की भी माँ। और वह भी केवल दूर की माँ नहीं, बिल्कुल अपनी माँ। उनका स्वयं का कथन है —'बेटा, मैं तुम्हारी मुँहबोली माँ नहीं, झूठ-मूठ की माँ नहीं, मैं तुम्हारी सच्ची माँ हूँ, सच्ची माँ।' और इस सच्ची माँ होने के कारण ही उन्होंने अपनी संततियों को, अपनी समकालीन एवं भावी समस्त संततियों को अभय और आश्वस्ति की वाणी दी —"बेटे, डरो मत। सर्वदा याद रखो, मैं तुम्हारे साथ हूँ।"

यह अभयदात्री, वरदात्री माँ सदैव आपके साथ हैं, सदैव मेरे साथ हैं, सदैव और सर्वत्र सबके साथ हैं। यह क्या साधारण आश्वासन की वाणी है ? नहीं ! यदि इसे हम किस्से-कहानी की तरह पढ़ लेंगे—बाँच लेंगे, तो यह वाणी मात्र कुछ शब्दों का निष्प्राण-निर्जीव गट्ठर होकर रह जायगी। और यदि हम इस वाणी को अपनी अनुभूति और अपने आचरण के धरातल पर ढाल सकेंगे तो यह वाणी हमारे

लिए एक जीवंत, जाग्रत बीज मंत्र का कार्य करेगी। यह हमारे पूरे जीवन को पलट देगी, रूपान्तरित कर देगी।

"बेटे, डरो मत, सर्वदा याद रखो, मैं तुम्हारे साथ हूँ।" - यह निश्चय ही एक बहुत बड़े अभय की वाणी है, बहुत बड़ी आश्वस्ति की, निश्चिन्तता की, विश्रब्धता की वाणी है। किन्तु, साथ ही इस वाणी में एक बहुत बड़ी चुनौती भी है, एक बहुत बड़ी परीक्षा भी है। आप कल्पना करें कि आपकी माँ आपके साथ हैं। तो ऐसी स्थिति में क्या आप किसी रूपवती युवती की ओर कुदृष्टि से देख सकेंगे? आपकी मां आपके साथ हैं, तब आप क्या अपने मन में कोई कुभाव पाल-पनपा सकेंगे? आपकी माँ आपके साथ हैं, तब आप कैसे किसी को लूटेंगे? कैसे किसी को छलेंगे? आपकी माँ जो आपके साथ हैं! आप हिंसा करने पर उतारू ही नहीं हो सकते। आप किसी के साथ बलात्कार कर ही नहीं सकते। आपकी मां जो आपके साथ हैं! आपकी माँ आपके साथ हैं, फिर आप कुमार्ग पर चल नहीं सकते।

माँ का सदा-सर्वदा हमारे-आपके साथ होना एक बहुत बड़ा खतरा है। खतरा इसलिए कि हम तो भोग में जीने के आदी हैं, अहंकार में रहने, फूलने फलने के अभ्यासी हैं, पौरुष के मद में इठलाकर हिंसा, अनाचार, कदाचार और अनेकानेक विकारों में पलते-पनपते रहे हैं। लेकिन यदि माँ सदैव हमारे साथ हो तो हमें इन प्रवृत्तियों से मुँह मोड़ना होगा। हमें अपनी जिन्दगी की राह बदलनी होगी। हमें अपने पूरे बदलाव के लिए तैयार होना होगा, प्रतिबद्ध होना होगा।

माँ के सदैव अपने साथ होने का अनुभव करना जिन्दगी में एक बड़ी क्रान्ति का घटना होगा। यह एक बड़े साहस का, एक बड़ी छलांग लगाने का काम होगा। माँ का सदैव साथ होना भोग से योग की ओर हमें ले जायगा, घृणा से प्रेम की ओर हमें ले जायगा, हिंसा से करुणा तथा प्रतिशोध से क्षमा की ओर हमें ले जायगा। यह जीवन के प्रति हमारी पूरी की पूरी दृष्टि को ही बदल डालेगा, हमारी जीवन शैली को ही परिवर्तित कर देगा। सच पूछिए तो माँ का सदैव साथ होना हमारे वर्तमान रूप को मार डालेगा और हमें एक नया जीवन प्रदान करेगा। माँ के सदैव साथ होने से हम जीवन की एक नयी यात्रा की शुरुआत करेंगे - उच्चता और दिव्यता और जीवन की धन्यता की ओर जाने की यात्रा की शुरुआत करेंगे।

माँ हमारे सदैव साथ हैं इस अनुभव के होने से ही सब कुछ हो गया। फिर किसी धर्म-साधना, किसी जप-तप, किसी ध्यान-धारणा की कोई आवश्यकता ही नहीं शेष रह जाती। हम स्वयं ही अपने आत्म स्वरूप में, अपने सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप में प्रवेश कर जायँगे। जरूरत केवल इस बात की है कि हम प्रतिक्षण यह अनुभव करें कि माँ हमारे साथ हैं।

श्रीमाँ सारदा से मेरी प्रार्थना है कि वे हम सब को यह अनुभूति प्रदान करने की कृपा करें कि वे सदैव हमारे साथ हैं। जय श्रीमाँ सारदा!

●

# आधुनिक युग में माँ सारदा का अवदान

श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्द
पूर्व अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं मिशन

त्रुटियों एवं अन्ध-विश्वासों से मुक्त करके तथा पतन से इसकी रक्षा करके धर्म को वास्तविक स्वरूप को हमारे समक्ष उद्घाटित करने के लिए ही रामकृष्ण विवेकानन्द का आगमन हुआ था। श्री रामकृष्ण के साथ माँ सारदा भी इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु अवतरित हुई थी।

हमलोग थोड़ी इस बात की चर्चा करें कि माँ ने हमलोगों को क्या दिया ? बाह्य रूप से उनमें कोई विशिष्टता नहीं दिखाई देती है। उन्होंने एक साधारण व्यक्ति की तरह जीवन व्यतीत किया था। लेकिन उनके जीवन में एक मधुरता थी। प्रारंभ में मैं इसकी धारणा नहीं कर सका। जब "श्री श्री मायेर कथा" का प्रथम एवं द्वितीय खण्ड प्रकाशित हुआ तो मैंने दोनों खण्डों को बड़ा उत्सुकतापूर्वक पढ़ डाला। एक भक्त महिला –जो अक्सर माँ के पास आती थी –ने श्रीमाँ की दैनिक घटनाओं को लिपिवद्ध कर रखा था। उक्त पुस्तक के प्रथम खण्ड में श्री-श्रीमाँ के दैनिक जीवन की घटनाओं का वर्णन है और द्वितीय खण्ड में उनके उपदेशों का संग्रह है। दोनों खण्डों को पढ़ने के बाद मुझे द्वितीय खण्ड अधिक पसंद आया। प्रथम खण्ड भी नि.सन्देह अच्छा था, लेकिन मैं यह नहीं समझ सका कि उसकी क्या विशेषता थी। जब पुस्तक का अंग्रेजी रूपान्तर हुआ और उसे अमेरिका भेजा गया तो पता चला कि अमेरिकन महिलाओं ने द्वितीय खण्ड की अपेक्षा प्रथम खण्ड को ही अधिक पसंद किया। वे अपने आदर्शों के माध्यम से शांति नहीं पा रही थीं। अतएव, इस बात की खोज में थीं कि भारतीय-नारी पारम्परिक रूप से किस तरह का जीवन व्यतीत करती हैं। इसे वे माँ की जीवनी में पा गयीं। वे सब शांति-प्राप्ति का तरीका चाह रही थीं। यही कारण है कि उनलोगों ने प्रथम खण्ड को पसंद किया।

हमारे देश की महिलाएँ प्राचीन भारतीय आदर्श भूल रही हैं। हमारे देश में, वर्त्तमान समय में, उसी आदर्श पर चलने की जरूरत है। नारी-सम्मेलनों में पारित प्रस्तावों को पढ़कर हम यह कह सकते हैं कि हमारे देश की महिलाएँ भारतीय आदर्श को भूलकर पाश्चात्य नारियों के आदर्श को अपना रही हैं। इससे हम उनके विचारों के झुकाव को समझ सकते हैं। भारतीय महिलाएँ उन्हीं पाश्चात्य आदर्शों की ओर तीव्र गति से बढ़ रही हैं जिनके मायाजाल से पाश्चात्य-महिलाएँ अपने-आप को मुक्त करने में लगी हैं। श्री श्रीमाँ ने आदर्श जीवन दिखाया जिसे जीकर शांति पायी जा सकती है। भारतीय-महिलाओं को इसी आदर्श को अपनाना होगा।

माँ के जीवन की विशिष्टता उनके विश्वजनीन मातृत्व में है। जो कोई भी उनके पास गया वह उनके प्रेम से अभिभूत हो गया। केवल वे ही नहीं, जो उनके पास आध्यात्मिक-शिक्षा प्राप्त करने जाते थे, बल्कि वे भी, जो घर में या खेतों में कार्य करते थे, उनके प्रेम-बन्धन में बँध जाते थे। श्री-श्रीमाँ के लीला-संवरण के कई वर्ष बाद भी वे कभी-कभी वहाँ जाया करते थे। किसी के यह पूछने पर कि "तुम अभी भी यहाँ क्यों आते हो ?" वे कहते कि

"हमलोग माँ के प्रेम को भूल नहीं सकते हैं।" अभी भी माँ की चर्चा मात्र से उनकी आँखों में आँसू आ जाते हैं। इसी से हम यह समझ सकते हैं कि माँ के प्रति वे किस प्रकार का आकर्षण बोध करते थे। वे माँ के प्रेम को भूल नहीं सकते हैं। जाने या अनजाने रूप से भी यदि कोई ईश्वर के प्रति इस तरह का आकर्षण-बोध करे तो उसकी मुक्ति निश्चित है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि श्री-श्री माँ के प्रति अपने प्रेम के कारण पाश्चात्य भक्त-महिलाएं भी मुक्त हो जायेंगी।

हमारे संघ के प्रति माँ का अवदान अगणित है। यदि माँ न होती तो इसमें सन्देह है कि श्री रामकृष्ण के सभी सन्यासी शिष्य संबद्ध होकर एक साथ रह पाते। अधिक सभावना थी कि वे विभिन्न स्थानों में जाकर तपस्या में अपना जीवन व्यतीत कर देते। श्री-श्रीमाँ के स्नेह के कारण ही एक धार्मिक संघ के रूप में वे एक साथ रहे। इसके अलावे जब माँ बोध गया गयीं तो वहाँ के मठ को देखकर उन्होंने श्रीरामकृष्ण से प्रार्थना की कि उनकी सन्तानों के लिए भी इसी तरह का मठ हो जहाँ वे एक साथ रह सकें। आज जो यह मठ-मिशन देखते हो, यह इसी प्रार्थना का फल है। फिर किसी के लिए भी वास्तव में रामकृष्ण और विवेकानन्द को उस रूप में समझना असभव था जिस रूप में माँ ने उन्हें समझा था। यद्यपि वह एक साधारण ग्रामीण महिला थीं तथापि सोचने-समझने की अद्भुत क्षमता उनमें थी। विदेश से लौटने पर स्वामीजी ने जब साधुओं के द्वारा किये जाने वाले सेवा कार्यों का श्रीगणेश किया तो अनेक लोगों ने—जिनमें उनके कुछ गुरुभाई भी थे—सोचा कि ये पाश्चात्य विचार हैं और श्रीरामकृष्ण के विचारों के अनुरूप नहीं हैं। निःसन्देह, शीघ्र ही गुरुभाइयों ने स्वामीजी के विचारों को स्वीकार कर लिया, लेकिन फिर भी कुछेक लोगों के मन में सन्देह बना ही था। मास्टर महाशय (श्रीरामकृष्ण बचनामृत के लेखक) का भी यही दृष्टिकोण था। मास्टर महाशय के कारण उद्‌बोधन-गृह के कुछ संन्यासियों एवं ब्रह्मचारियों के भी मन में यही सन्देह घर कर गया। उन्होंने माँ से इसके बारे में पूछा। माँ ने उत्तर दिया, "मास्टर को जो अच्छा लगे कहने दो, नरेन जो कुछ कर रहा है, वह श्री रामकृष्ण के विचारों के पूर्ण अनुरूप है।" फिर उन्होंने पूछा, "क्या उद्‌बोधन एवं अन्य पुस्तकों का प्रकाशन भी श्रीरामकृष्ण के विचारों के अनुरूप है?" माँ ने जवाब दिया,—"हाँ, ये भी हैं।" इस तरह एक ही वाक्य में स्वामीजी का मूल मंत्र—आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च—का पूर्ण समर्थन उन्होंने प्रदान कर दिया।

जब माँ वाराणसी गयीं तो सेवाश्रम के नजदीक एक मकान में ठहरीं। एक दिन वह सेवाश्रम देखने गयीं और लौटते समय बोलीं "मैंने जाकर अस्पताल देखा। वहाँ ठाकुर अधिष्ठित हैं, सर्वत्र व्याप्त है।" फिर उन्होंने दस रुपये का नोट दान-स्वरूप भिजवाया। उस नोट को अभी तक सेवाश्रम में सुरक्षित रखा गया है। इस प्रकार माँ ने संघ की कई समस्याओं का समाधान कर दिया।

माँ ने विश्व को क्या दिया? उन्होंने मातृत्व का आदर्श दिया। उन्होंने अपने जीवन में प्राचीन भारतीय आदर्श को धारण किया ताकि उनके जीवन को देखकर महिलाएँ आदर्श जीवन यापन कर सकें। इन दिनों भारतीय महिलाएँ आगे आ रही हैं और प्राचीन युग के अनुसार रसोईघर में सीमित न रहकर विभिन्न प्रकार के क्रिया-कलापों में भाग ले रही हैं। उनमें कुछ राजनीति में तो कुछ चिकित्सा कार्य में, कुछ सेवाकार्य में तो कुछ अन्य कार्यों में भाग ले रही हैं। इस प्रकार उनका कार्य-क्षेत्र सर्वत्र फैल गया है। वस्तुतः इसकी आवश्यकता है, लेकिन साथ ही इन क्रिया-कलापों में फँसने से आँखों से आदर्श के ओझल होने का डर भी है।

यही कारण है कि माँ ने एक आदर्श-जीवन दिखाया। मानो कि उन्होंने आदर्श का एक साँचा

तैयार कर अपनी संततियों के लिए इसे पीछे छोड़ गयीं। हमारे देश में नारी का आदर्श मातृत्व और पवित्रता है। हमारी बालिकाओं को माँ के जीवन-साँचे में अपने आप को ढालना होगा, उन्हें भारत के अपने आदर्श को दृढ़तापूर्वक पकड़ना होगा और साथ ही नयी परिस्थितियों के अनुसार चलना होगा। माँ ने जिस आदर्श को दिखाया है वह केवल भारत वर्ष के लिए ही नहीं, वल्कि सम्पूर्ण विश्व के लिए है। अतएव, श्री श्रीमाँ के पद्-चिन्हों का अनुसरण कर उसी के अनुसार अपने जीवन को ढालने से नारी जाति का कल्याण तो होगा ही साथ ही विश्व का भी कल्याण होगा।

('स्पिरिचुअल आइडियल फॉर द प्रेजेन्ट एज' नामक पुस्तक से साभार अनूदित। अनुवादक : श्री रामेश्वर)

# श्री श्रीमाँ-गुरु शक्ति

लेखक—स्वामी पूर्णात्मानन्द

अनुवादिका—डॉ० नन्दिता भार्गव

[बंगला मासिक पत्रिका उद्बोधन के सह-सम्पादक स्वामी पूर्णात्मानन्दजी द्वारा लिखित प्रस्तुत लेख उद्बोधन के १३९६ बंगाब्द के श्रावण अंक में प्रकाशित हुआ था जिसका हिन्दी रूपान्तर अजमेर, राजस्थान की डॉ० नन्दिता भार्गव ने किया है—सं.]

आचार्यों का कथन है, "नास्ति मातृसमंगुरुः"—माता के समान कोई गुरु नहीं। जगतगुरु श्रीरामकृष्ण ने संसार के लोगों को माँ का मंत्र सुनाया। सुनाकर ही वह रुके नहीं, उन्होंने मंत्रमूर्ति भी प्रदान की। वह मंत्रमूर्ति है—सारदा देवी। श्रीमाँ सारदा देवी में माँ तथा गुरु दोनों ही पाकर संसार मानो धन्य हो गया है।

गुरु की श्रेष्ठता वहीं है जहाँ वह शिष्य को उसकी प्रकृति के अनुसार वांछित लक्ष्य की ओर अग्रसर करवा दे। सांसारिक क्षेत्र में देखा गया है कि एकमात्र माता ही ठीक-ठीक अपनी सन्तानों की रूचि और मनोभाव से परिचित होती है। इस कारण वह, जो जिस वस्तु को सुपाच्य कर सके, उसके लिए वैसा ही आहार प्रस्तुत कर परोस देती हैं। इस प्रकार से संतानों के स्वास्थ्य की रक्षा होती है। श्रीमाँ सारदा देवी सांसारिक रूप में जननी न होकर भी अनगिनत सन्तानों की माँ थी। सब के लिए वे सचमुच की माँ थी। अनगिनत सन्तानों में कुछ के लिए वे गुरु थीं—परमार्थ की पथ प्रदर्शिका। केवल कुछ जनों की ही वे गुरु थीं ऐसा कहना सत्य नहीं होगा। वे संसार में सभी के लिए गुरु थीं तथा जननी भी थीं। गुरु है ज्ञान-दाता या ज्ञानदात्री। गुरु शब्द में ही यह तात्पर्य निहित है। 'गु' शब्द का अर्थ है अज्ञान और 'रु' का अर्थ है अज्ञान का निरोध करने वाली ज्योति। अतः गुरु वही है जो अज्ञान रूप अंधकार का निरोध कर सके। वेद के अनुसार ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती है। तंत्र के अनुसार मानव में मध्य-स्थित मूलाशक्ति कुण्डलिनी शक्ति है। वही शक्ति जब जाग्रत होकर ऊपर उठती है तो ज्ञान की

प्राप्ति होती है। ध्यान रखने योग्य बात यह है कि गुरु, सरस्वती तथा मूलाशक्ति कुण्डलिनी का बीज-मंत्र एक ही है — अर्थात् "ॐ"

सारदा देवी के विषय में श्रीरामकृष्ण कहते थे —"वह सारदा है—सरस्वती - ज्ञान प्रदान करने आयी है।,, वे कहते, (वह) ज्ञानदायिनी है।, स्वामीजी ने भी किसी भक्त से कहा था, "वर्तमान समय में वे सरस्वती मूर्ति में आविर्भूता हैं।" श्रीमाँ ही मूलाशक्ति कुण्डलिनी स्वरूपिणी थीं। स्वामी विज्ञानान्दजी का श्रीमाँ के प्रथम चित्रण में उसका प्रमाण मिलता है। वे कहते थे, "मैंने उस समय तक माँ को देखा नहीं था, सो दर्शन करने गया। मां ऊपर थीं, मैं नीचे ही बैठा था कि मेरा हृदय कमल खिल उठा। श्रीमाँ से दीक्षा प्राप्त करते समय बहुतों ने अनुभव किया मानो एक विद्युत तरंग पैर से मस्तक तक लहरा गई।

श्रीमाँ थीं गुरु, सरस्वती एवं मूलाशक्ति। तीनों ही एक और एक में ही तीन। सरस्वती तथा मूलाशक्ति उनका देवी स्वरूप था। गुरु भाव उनके इस लौकिक संसार की एक आध्यात्मिक भूमिका थी। वे जननी भी थीं। उनके ये चारों रूप ही सत्य हैं। इन चार रूपों का विभाजन नहीं हो सकता। कारण एक में दूसरा व अन्य सभी रूप अविच्छेद्य भाव से संयुक्त हैं। श्रीमाँ के सर्वश्रेष्ठ जीवनीकार स्वामी गम्भीरानन्दजी ने यथार्थ में ही लिखा है, "ये सब उनके शरीर तथा मन को अवलम्बित कर प्रकाशित एक ही अखण्ड महाशक्ति का विचित्र रूप है। उस अखण्ड शक्ति का कदापि विश्लेषण नहीं हो सकता। हम लोगों की सीमित बुद्धि असीम की धारणा नहीं कर पाती हैं। अपनी अपनी धारणाशक्ति के अनुसार ही हम लोग श्रीमाँ को जननी, गुरु, देवी इत्यादि भिन्न-भिन्न रूपों में समझने की चेष्टा करते रहते हैं। परन्तु तनिक चिन्तन करने से ही बोधगम्य हो जाता है कि इस लोकातीत जीवन में गुरु, देवी तथा माता यह तीनों रूप ही एक ही अंग में संलिष्ट हैं। जब कभी उनको जननी रूप में देखते हैं, तो उनकी अमोध ज्ञान दायिनी शक्ति हमारे सामने प्रस्फुटित हो उठती है। जब उन्हें गुरु के रूप में देखते हैं तो मानो वे माता के रूप में अंक में बिठा लेती हैं। गुरु तथा माता के रूप में उनकी धारणा करते समय ऐसा लगता है कि मानो वे इन सभी भावों के बहुत उर्ध्व में, देवी रूप की महिमा में प्रतिष्ठित हैं। वस्तुतः श्रीमाँ को गुरु शक्ति का चिन्तन करते समय उनकी इस त्रिविध शक्ति को हमें स्मरण रखना होगा।

गुरु को पथ प्रदर्शक कहा जाता है। गुरु शिष्य को सही पथ पर प्ररिचारित करते हैं। सिद्ध गुरु इच्छा द्वारा ही अपने किसी भी शिष्य के लिए मुक्ति का द्वार खोल सकते हैं। परन्तु वे ऐसा नहीं करते। कारण ऐसा करने से शिष्य की योग्यता का विकास नहीं होगा। वे कठोर साधना और तपस्या के माध्यम से, स्वयं के उद्यम द्वारा ही, शिष्य को भक्ति मार्ग में अग्रसर होने के लिए प्रेरित करते हैं। श्रीमाँ ने भी ऐसा ही किया। केवल इच्छा के द्वारा ही नहीं, दृष्टि मात्र से ही शिष्य के जन्म जन्मान्तर की अज्ञान ग्रन्थियों का नाश कर देने की क्षमता उनमें थी। परन्तु उन्होंने अपनी इस क्षमता का प्रयोग नहीं किया। उनका भाव था पहले आत्मकृपा तत्पश्चात् गुरु की कृपा। पहले अध्य-वसाय, फिर दैवी कृपा वे साफ कहतीं थी—"साधन बिना साध्य वस्तु कभी नहीं मिलती है। चन्दन घिसे बिना ही क्या सुगन्ध आती है?" परन्तु वास्तविक जिज्ञासु को कहना नहीं भूलती थीं कि आध्यात्मिक जीवन की अंतिम बात— ईश्वर की कृपा ही है। एक बार, एक संन्यासी सन्तान ने उनसे पूछा, "किस प्रकार भगवान लाभ किया जा सकता है? पूजा, जप, ध्यान - वह सब करने से ही क्या हो जायगा?" श्रीमाँ ने उत्तर दिया, इन सबसे कुछ नहीं होगा। सन्तान ने पुनः पूछा, "क्या इन सब से नहीं होगा?" श्रीमाँ ने पुनः उत्तर दिया, "किसी

मे भी नहीं होगा। सन्तान ने फिर भी पूछा, "किसी से नहीं ?" श्रीमाँ ने दृढ़तापूर्वक कहा, "किसी से नहीं। तब उसने पूछा, "तो फिर कैसे होगा ? श्रीमाँ का स्पष्ट उत्तर था, "केवल उनकी कृपा से ही होता है। परन्तु ध्यान और जप करते ही रहना चाहिए। इन सब से मन का मैल दूर होता है। पूजा, जप, ध्यान ये सब करना चाहिए। कारण, साधन नहीं करने से कृपा नहीं होगी। साधना करने से ही कृपा का क्षेत्र प्रस्तुत हो जाता है। जैसे फूलों का घर्षण करते-करते सौरभ आने लगता है। चन्दन घिसते-घिसते, सुगन्ध आने लगती है, वैसे ही भगवत् तत्व का विचार करते-करते तत्व ज्ञान उदित होता है। परन्तु यदि वासना रहित हो सकते हो तो इसी क्षण हो जायेगा।"

श्रीमाँ ने यहां एक असाधारण बात बतायी— "यदि वासना रहित हो सकते हो तो इसी क्षण हो जायेगा।" संसार की गति वासना से ही है। बौद्ध इसे "तन्हा" कहकर निरूपण करते हैं। हमारी समस्त साधना और तपस्याओं का उद्देश्य ही है वासनाओं का क्षय होकर उससे छुटकारा मिल जाना। ऐसा होने पर ही तत्वज्ञान या मोक्ष की उपलब्धि होती है। "विवेक चूडामणि" में आचार्य शंकर ने कहा है—"वासना प्रक्षत्री मोक्षः" वासनाओं का सम्पूर्ण रूप से क्षय होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष प्राप्त कर लेने से संसार में आवागमन का निरोध होता है। श्रीमाँ कहतीं थीं –'वासना के रहते संसार में आवागमन की समाप्ति नहीं होती है। वासना के द्वारा ही एक शरीर से दूसरा शरीर आरम्भ होता है। इस कारण उन्होंने उपदेश दिया। बात तो एक ही है—वासना रहित होने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।"

इस प्रसंग में उनकी अमूल्य बात थी, "प्रार्थना करनी चाहिए।" प्रार्थना के साथ जो भाव संयुक्त रहता है--वह है विनती। साधना, प्रयास इत्यादि आवश्यक है किन्तु वही सब कुछ नहीं है। उन सबके पश्चात् और भी कुछ है अर्थात्-शरणागति। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "नाहं, नाहं, नाहं, तुहं तुहं।" योग सूत्र के रचनाकर महर्षि पंतजलि ने इसे ही "ईश्वर प्रणिधान" कहा है – ईश्वर के पास आत्मसमर्पण। अत्यन्त ही सरल भाषा में श्रीमां ने कहा, "यह कहना कि इतना जप किया है, इतना प्रयास किया है, इन सब से कुछ नहीं होने का। यदि महामाया रास्ता न खोल दे तो कुछ प्राप्त ही नहीं किया जा सकता। हे प्राणी, शरणागत हो जाओ, केवल मात्र शरणागत। उसी से ही वे द्वार खोल देंगी।"

संकीर्णता, दूसरों के मत के प्रति असहिष्णुता, औरों का दोष देखना, ये सब स्वयं के जीवन में ही नहीं, परन्तु समीपस्थ तथा वृहत्तम क्षेत्र में समग्र संसार के लोगों के जीवन में अनर्थ की सृष्टि करता है। इस कारण, आचार्य रूपी श्रीमाँ ने कहा था — "सभी वस्तुओं में ब्रह्म है। साधुगण आते हैं मानव को मार्ग बतलाने के लिए। प्रत्येक अलग-अलग बातें करते हैं। पथ उनके भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु सभी की बातें सत्य हैं। जैसे एक वृक्ष पर नाना प्रकार के पक्षियों में कोई सफेद, कोई काला और कोई लाल आकर बैठता है। वे भिन्न प्रकार की बोलियां बोलते हैं। किसी एक पक्षी का चहकना बोल है, बाकी पक्षियों के बोलियाँ बोल नहीं हैं— ऐसी बात तो नहीं है। संसार के लिए उनकी अंतिम वाणी भी इस प्रकार की है। यदि शान्ति चाहते हो तो किसी में दोष नहीं देखना। स्वयं के दोष को ही देखो। संसार को अपना बनाना सीखो। कोई भी पराया नहीं है, संसार तुम्हारा है।"

यह केवल उनकी वाणी ही नहीं थी। यह थी उनकी अपनी जीवन चर्या का मंत्र, उनकी उपलब्धि। यही उनका जीवन था। जीवन ही उनकी वाणी थी।

इस जीवन चर्या के द्वारा ही वे जगतगुरुओं की

उपलब्धि की वस्तु—एकत्व की प्राप्ति अथवा ब्रह्मज्ञान में प्रतिष्ठित हुई। अपनी उपलब्धियों के कारण ही उन्होंने कहा था, "साधना करते-करते देखोगे कि स्वयं के अन्तःकरण में जो है वही दूसरे में है, तथा वही मोची, चमार, डोम के अन्तःकरण में भी है। उनकी यह उपलब्धि किस भाँति की थी यह उन्हीं के द्वारा बतलायी गयी घटना से ज्ञात हो जाता है - "एक बड़ा सा मकोड़ा चला जा रहा था—राधी उसे मारने की चेष्ठा करने लगी। बताऊं उसमें मैंने क्या देखा ? देखा कि वह मकोड़ा नहीं--वह मानो ठाकुर ही हैं, वही ठाकुर के हाथ, पैर, मुख, आँखें सब कुछ वही—मैंने राधी को रोका।"

श्रीमाँ थीं सतगुरु। कोटि में एक या दो ही ऐसे सतगुरु मिलते हैं जो स्वयं की शक्ति के द्वारा सभी आश्रितों का उद्धार करने का सामर्थ्य रखते हैं। श्रीमाँ स्वयं इसकी स्वीकृति हम लोगों को देती हैं। उन्होंने कहा है कि जिनको उनका आश्रय मिला है, उनमें से एक की भी जब तक मुक्ति नहीं होगी, तब तक उन्हें "छुट्टी" नहीं मिलेगी। गीता में जगतगुरु भगवान ने कहा है —'न मे भक्ताः प्रणश्यति' जो मेरे आश्रित हैं उनका विनाश नहीं हो सकता। श्रीमाँ ने तो परम दृढ़ता से घोषित किया "क्या मेरे पुत्र होकर तुम डूब जाओगे ? जो यहाँ आये हैं, जो मेरे सन्तानगण हैं, वे मुक्त हो गये हैं। विधाता भी मेरे पुत्रों को डुबो नहीं सकते।" एक बार की घटना है कि बहुत दूर से कोई दीक्षा लेने आये हुए थे। उस समय श्रीमाँ बहुत अस्वस्थ थीं। इस कारण स्वामी सारदानन्द के आदेशानुसार श्रीमाँ के दर्शन बन्द थे। अतः सेवक ने आगुन्तक को रोका। पर वह भी कृतसंकल्प था। दोनों में प्रचण्ड विवाद आरम्भ हो गया। कोलाहल श्रीमाँ के कानों में जा पहुँचा। अकस्मात् वे अस्तव्यस्त भाव में आकर उपस्थित हुईं और क्षुब्ध होकर सेवक से बोलीं, "तुम आने पर क्यों रोक लगा रहे हो ?" सेवक ने उत्तर दिया, शरत् महाराज ने मना किया है। इस अवस्था में दीक्षा देने से आप अधिक अस्वस्थ हो जायेंगी।" श्रीमाँ ने कहा, "शरत् कहेगा क्या ? हम लोग तो इसी कारण आये हैं। मैं उसे दीक्षा दूंगी।" इन दो घटनाओं में ही उनके गुरु भाव तथा दैवी भाव का ही विशेष अभिबोध होता है।

आश्रितों के प्रति दया और करुणा से वे इस भाँति ही तन्मय हो जाती थीं। उस समय उनमें गुरु और दैवी भाव के ऊपर जो भाव विद्यमान रहता वह था मातृत्व। वे कहतीं थीं, "मैं गुरु नहीं हूँ...... मैं माँ हूँ, सकल जन की माँ। "गुरु व देवी की परिधि को मानो वह भंग कर बाहर आ जाती थीं। तब वह होती थीं केवल माँ।

# नरदेव श्रीरामकृष्ण (५)

स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

## प्रोज्ज्वल भक्ति पटावृतवृत्तम

श्रीरामकृष्ण महान योगी और ब्रह्मज्ञानी होने के साथ ही साथ एक महान भक्त भी थे। यही नहीं, सामान्यतः वे ज्ञानी अथवा योगी के बदले एक भक्त अधिक प्रतीत होते थे। कथित है कि श्रीरामकृष्ण बाहर से भक्त और भीतर से ज्ञानी थे। और स्वामी विवेकानन्द बाहर से ज्ञानी और अन्दर के भक्त थे। तात्पर्य यह कि ये दोनों महापुरुष भक्त और ज्ञानी दोनों ही थे, लेकिन उनकी अभिव्यक्ति दोनों में भिन्न थी।

सामान्यतः ज्ञान और भक्ति को परस्पर विरोधी समझा जाता है। ज्ञान एक अद्वितीय सत्ता को स्वीकार करता है जब कि भक्ति द्वैत के बिना सम्भव नहीं है। अद्वैत के अनुसार तो भक्ति का केन्द्र, ईश्वर, भी मिथ्या है। यह भी मान्यता है कि विचार से भक्ति-भावना की हानि होती है। यही कारण है कि जब श्रीरामकृष्ण तोतापुरीजी से वेदान्त की शिक्षा लेने के लिए प्रवृत्त हुए थे तब भैरवी ब्राह्मणी ने इसका विरोध कर श्रीरामकृष्ण को उससे विरत करने का प्रयत्न किया था। दूसरी ओर तोतापुरी भी श्रीरामकृष्ण की आराध्या जगदम्बा भवतारिणी को मिथ्या तथा श्रीरामकृष्ण की उनके प्रति भक्ति को अज्ञान प्रसूत समझते थे। श्रीरामकृष्ण ताली बजा कर जगदम्बा का गुणगान करते थे तो तोतापुरी मजाक उड़ाते हुए कहते थे कि क्या रोटी ठोंक रहा है? लेकिन श्रीरामकृष्ण का ब्रह्मज्ञ होते हुए भी अन्त तक माँ जगदम्बा का भक्त बने रहना इस बात का प्रमाण है कि ज्ञान और भक्ति दोनों एक ही व्यक्ति में रह सकते हैं। ज्ञान का सम्बन्ध बुद्धि से है और भक्ति का हृदय से। और श्रेष्ठ सन्तुलित व्यक्तित्व के लिए दोनों का विकास वांछनीय है।

**भक्ति :**

नारद के अनुसार परमात्मा को परम प्रेम करना भक्ति कहलाता है : "सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा।" शाण्डिल्य ने भी इसी तरह की परिभाषा की है; "परानुरक्तिरीश्वरे"। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार "भक्ति परमात्मा की खोज को कहते हैं जो प्रेम में प्रारम्भ हो, प्रेम के द्वारा ही हो और प्रेम में ही परि समाप्त हो।" Search for God, Search beginning, Continuing and ending in love." श्रीरामकृष्ण के आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ माँ जगदम्बा की भक्ति से हुआ था, और वे समग्र जीवन उनके भक्त बने रहे थे।

भक्ति की एक और परिभाषा है जो स्वामी विवेकानन्द को अत्यन्त प्रिय थी, "या प्रीति रविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदया न्मापसर्पतु॥"

अर्थात् "अविवेकी व्यक्तियों की विषयों के प्रति जो कभी कम न होने वाली प्रीति होती है, तुम्हारा स्मरण करते हुए वैसी प्रीति मेरे हृदय से कभी दूर न हो।" यह भक्त प्रवर प्रह्लाद का कथन है। श्रीरामकृष्ण कुछ इसी प्रकार की बात कहते हैं : माता का सन्तान के प्रति प्रेम, सती का पति के प्रति प्रेम और विषयी का विषय के प्रति प्रेम, इन तीनों प्रेमों को एक करके जब भगवान को प्रेम किया जाता है, तब उनके दर्शन होते हैं। ऐसी

ऐकान्तिक भक्ति को प्रोज्ज्वल भक्ति कह सकते हैं। इसे ही पराभक्ति, रागानुगा भक्ति आदि भी कहा जाता है।

इस रागानुगा भक्ति के अनेक प्रकार शास्त्रों में कहे गये हैं। ऐसा भक्त शान्त, दास सख्य, वात्सल्य और मधुर भावों से प्रेम करता है। फिर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग आदि भावों का भी वर्णन भक्ति शास्त्रों में पाया जाता है। भक्ति की सिद्धावस्था में भाव, समाधियाँ तथा विभिन्न शारीरिक सात्विक विकार साधक में उत्पन्न होते हैं। श्रीरामकृष्ण में ये सारे लक्षण प्रकट हुए थे। भाव तथा समाधि तो उनके लिए स्वाभाविक थे। भजन कीर्तनादि सुनते हुए वे गहरी समाधि में लीन हो जाते थे, अथवा नृत्य, कीर्तनादि करते थे। तात्पर्य यह कि श्रीरामकृष्ण एक उच्चकोटि के भक्त ही नहीं परम भक्त थे जिनकी तुलना श्री चैतन्य देव, तथा श्री राधिकाजी से की जा सकती है।

**पटावृतवृत्तम :—**

यह विशेषण श्रीरामकृष्ण में ज्ञान और भक्ति के समन्वय की ओर इंगित करता है। श्रीरामकृष्ण का अद्वैत ज्ञान उज्ज्वल भक्ति के द्वारा आच्छादित था। जैसा कि कहा जा चुका है, ज्ञान व भक्ति विरोधी समझे जाते हैं। अद्वैत वेदान्तवादी उपासना को ज्ञान की पूर्वभूमिका, अथवा विक्षेप रूपी अन्तराय दूर करने के लिए एक साधन मात्र मानते हैं। इसके विपरीत शाण्डिल्य ज्ञान को भक्ति का अंग मानते हैं। लेकिन श्रीरामकृष्ण में हम दोनों का एक साथ एक ही समय अद्भुत समन्वय पाते हैं। जिस माँ रूपी पट या आवरण को ज्ञान खड्ग से काट कर उन्हें अद्वैत वेदान्त की चरम स्थिति, निर्विकल्प समाधि, की अनुभूति हुई थी, उसी आवरण या पट को उन्होंने पुनः धारण कर लिया था। यही नहीं अपने अद्वैत वेदान्त के गुरू श्रीतोतापुरीजी को भी उन्होंने माँ के दर्शन कराकर उनके ज्ञान को पूर्णता प्रदान की थी। तोतापुरीजी का अद्वैतज्ञान मानो एक स्वच्छ दाग रहित संगमरमर के पत्थर के समान उज्ज्वल था, जिस पर श्रीरामकृष्ण ने जगदम्बा की भक्ति रूपी नक्काशी, कारीगरी करके उसे और भी सुन्दर बना दिया। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि जब ब्रह्म निष्क्रिय होता है तब मैं उसे ब्रह्म कहता हूँ, लेकिन जब जगत की सृष्टि, स्थिति और लय करता है, तब उसे ही माँ कहता हूँ। उनकी प्रसिद्ध उक्ति थी, "जब अहंकार जाने का नहीं तो रहने दो साले को दास बनाकर, — भगवान का दास। तात्पर्य यह कि श्रीरामकृष्ण ने "माँ के दास" रूपी अपने विशुद्ध अहंकार के द्वारा अपने अद्वैत ज्ञान को छिपा रखा था।

गले के कैंसर के कारण मुँह से कुछ न खा पाने पर भी यह अनुभव करना कि मैं सबके मुँह से खा रहा हूँ, श्रीरामकृष्ण की उच्च अद्वैत स्थिति का द्योतक है। लेकिन इसके साथ भी भक्ति का अद्भुत समावेश है। जब श्रीरामकृष्ण के भक्तों ने उनसे आग्रह किया कि वे माँ जगदम्बा से अपने रोग को ठीक कर देने के लिए प्रार्थना करें; तो वे अनिच्छा होते हुए भी इसके लिए राजी हो गये। बाद में जब भक्तों ने उनसे पूछा कि माँ ने क्या कहा तो श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया कि माँ ने तुम सभी को दिखा कर कहा कि तू इतने मुँह से तो खा रहा है। यहाँ अपनी अद्वैत अनुभूति तथा उसमें अवस्थिति को माँ जगदम्बा के मुँह से कहलवाकर श्रीरामकृष्ण ने ज्ञान और भक्ति का एक उद्भुत समन्वय स्थापित किया है।

# गुरु प्रसाद सब विद्या पाई

**स्वामी शशांकानन्द**
प्राचार्य, रामकृष्ण मिशन समाज सेवक शिक्षण मन्दिर
बेलुड़मठ, हावड़ा।

इस बात की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं कि संसार में हमें जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रत्येक कार्य के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। किन्तु एक ही व्यक्ति के द्वारा सभी कार्यों में शिक्षा प्राप्त नहीं होती, इसलिए गुरु अनेक होते हैं। और सभी गुरु हमारी श्रद्धा के पात्र हैं। स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं,—"मेरा मूल मंत्र है कि जहाँ जो कुछ अच्छा मिले, सीखना चाहिए। क्योंकि जितने गुरु हैं; वे सब एक उसी जगद्गुरु के अंश तथा आभास स्वरूप हैं।" (वि०सा० खण्ड २, पृ० ३२३)

## गुरुओं की श्रेणी

जब मनुष्य व्यवहार में उतरता है तो उसे अनेक गुरुओं की आवश्यकता होती है। व्यावहारिक ज्ञान के लिए दत्तात्रेयजी ने चौबीस गुरु बनाये थे। व्यवहार में प्रत्येक मनुष्य को प्रथमतः माता तथा बाद में पिता, अध्यापक, हितकर्त्ता, उपनयनकर्ता अन्नादिकों से पोषण और भय से रक्षा कर बल प्रदान करनेवाले अनेक गुरुओं की आवश्यकता पड़ती है। कहा भी गया है;

जनिता चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते गुरवः स्मृताः॥

रामचरितमानस में इन सभी प्रकार के गुरुओं का बड़ा ही सुन्दर बर्णन मिलता है।

## प्रथम गुरु माता और फिर पिता

प्रत्येक प्राणी के लिए, चाहे वह मानव योनि का हो या अन्य योनियों वाला, 'माँ' ही उसकी प्रथम एवं निकटतम पथ-प्रदर्शक होती है। शिशु अपनी माँ के पास ही सब कुछ सीखता है और उसके अनुशासन में चलता है। माँ की आज्ञा सर्वोपरि होती है।

माँ और शिशु का मधुर सम्पर्क हमें रामचरितमानस के बालकाण्ड में मिलता है। सबसे पहले प्रभु का अवतरण बालरूप में माता की गोद में ही हुआ। वे माता की गोद में खेलना सीखते हैं।

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुण बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौशल्या के गोद॥

माता कौशल्या की गोद भरने पर माता असीम आनन्द का अनुभव कर रही थीं।

कबहुँ उछंग कबहुँ वर पलना।
मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना॥

—कभी गोद में लेकर तो कभी उत्तम पालने में लिटाकर माता 'प्यारे ललना' कह कर दुलार करती हैं।

माता ही उनके बालों को सँवारती हैं और वस्त्र पहनाती हैं। घुटने के बल चलना सिखाती हैं।

चिक्कन कच कुंचित गभुआरे।
बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥
पीत झगुलिया तनु पहराई।
जानु पानि विचरनि मोहि भाई॥

पिता का सम्बन्ध भी रामचरितमानस में अनुध्यान करने योग्य है। भगवान् माता की गोद और पालने से उतर कर सबसे पहले पिता के आंगन में विचरण करते हैं।

मन क्रम बचन अगोचर जोई ।
दशरथ अजिर बिचर प्रभु सोई ।।
भोजन करत बोल जब राजा ।
नहिं आवत तजि बाल समाजा ।।
कौशल्या जब बोलन जाई ।
ठुमुक ठुमुक प्रभु चलहि पराई ।।

पिता जब उन्हें भोजन के लिए बुलाते हैं तो प्रभु बालकों के समाज को छोड़कर नहीं आते। जब माता बुलाने जाती है तब ठुमुक-ठुमुक कर पिता के आँगन में भागते रहते हैं।

धूसर धूरि भरें तनु आए ।
भूपति बिहसि गोद बैठाए ।।

आंगन में खेलते हुए, ठुमुक-ठुमुक चलते हुए शरीर में धूल लपेटे जब आये तो पिता ने उन्हें हंसकर गोद में बैठा लिया ।

माता-पिता ही सब गुरुओं में सबसे मधुर संबंध बनाकर शिशु को शिक्षा देते हैं। इसीलिए शिशु के लिए माता-पिता वन्दनीय, पूजनीय और प्रणम्य हैं। रामचरित मानस में भगवान् श्रीराम इसी आदर्श को सामने रखते हैं।

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा ।
मातु पिता गुरु नावहिं माथा ।।
आयसु मागि करहिं पुरकाजा ।
देखि चरित हरषइ मनराजा ।।

प्रातः काल उठ कर सबसे पहले माता-पिता और गुरु को प्रणाम करते हैं। फिर उनकी आज्ञा लेकर नगर का काम करते हैं।

और एक सुन्दर प्रसङ्ग हमें अयोध्या काण्ड में मिलता है जब भगवान् श्रीराम माता कैकेयी के आदेश से वन गमन के लिए माता कौशल्या की आज्ञा लेने गये। उन्होंने माता कौशल्या से कहा,

आयसु देहि मुदित मन माता ।
जेहिं मुद मंगल कानन जाता ।।

'—हे माता तू मुझे प्रसन्न मन से आज्ञा दे, जिससे मेरी वन यात्रा आनन्दपूर्ण और मंगलमयी हो।' यह सुनकर कि राम वन को जायेंगे माता कौशल्या के हृदय पर पहाड़ टूट गया। किन्तु एक कुशल माता की भाँति अपने हृदय की पीड़ा को कर्त्तव्य पर बलि करते हुए उन्होंने कहा,

जौं केवल पितु आयसु ताता ।
तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ।।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना ।
तौ कानन सत अवध समाना ।।

अर्थात् —'हे तात् ! यदि केवल पिताजी की ही आज्ञा हो, तो माता को (कौशल्या) पिता से बड़ी जानकर वन को मत जाओ। किन्तु यदि माता (कैकेयी) और पिता दोनों ने वन जाने को कहा हो, तो वन तुम्हारे लिये सैंकड़ों अयोध्या के समान है।'

इस प्रकार माता ने एक गुरु का कर्त्तव्य निभाया और श्री राम को आर्योचित उपदेश दिया।

श्री राम ने अपनी गुरु रूपिणी माता कैकेयी के प्रति जो श्रद्धा और भक्ति दिखायी है वह भी अतुलनीय है। भगवान् श्री राम को जब कैकेयी ने वन गमन का हृदय-विदारक आदेश दिया तो अनुपम छटा से मुस्कराते हुए उन्होंने कहा,

सुनु जननी सोइ सुतु बड़ भागी ।
जो पितु मातु बचन अनुरागी ।।
तनय मातु पितु तोषनिहारा ।
दुर्लभ जननि सकल संसारा ।।

—'हे माता ! सुनो, वही पुत्र बड़ भागी है जो पिता और माता के वचनों का पालन करने वाला है और आज्ञा पालन के द्वारा माता-पिता को सन्तुष्ट करने वाला पुत्र, हे जननी ! सारे संसार में दुर्लभ है।

### कुलगुरु

माता की गोद में और पिता के आँगन में पलते हुए शिशु को आवश्यकता होती है कुलगुरु की।

हिन्दू जाति में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त संस्कार होते हैं जैसे नामकरण, चूड़ाकरण, यज्ञोपवीत इत्यादि इन सब संस्कारों को सम्पन्न करने के लिए कुलगुरु की आवश्यकता पड़ती है।

रामचरितमानस में कुलगुरु के सम्बन्ध में प्रसङ्ग इस प्रकार मिलते हैं।

**(च) जातकर्म के समय**

जब महाराज दशरथ ने पुत्र जन्म का समाचार सुना तो आनन्द से उनका हृदय भर गया और उन्होंने तुरन्त कुलगुरु को बुलावा भेजा।

गुर वशिष्ठ कहँ गयउ हँकारा।
आए द्विजन सहित नृप द्वारा ॥
अनुपम बालक देखेन्हि जाई।
रूप रासि गुन कहि न सिराई ॥

—'गुरु वशिष्ठ जी के पास बुलावा गया। वे ब्राह्मणों को साथ लिए राजद्वार पर आये। उन्होंने जाकर अनुपम बालक को देखा, जो रूप की राशि है और जिसके गुण कहने से समाप्त नहीं होते।"

नंदीमुख सराध करि जात करम सब कीन्ह।
हाटक धेनु वसन मनि नृप विप्रन्ह कहँ दीन्ह ॥

महाराज दशरथ ने तब नान्दीमुख श्राद्ध करके जात कर्म संस्कार आदि किये और ब्राह्मणों को सोना, गौ, वस्त्र और मणियों का दान दिया।

**(छ) नामकरण संस्कार के समय**

जातकर्म संस्कार के कुछ दिन बाद ही शिशु का नामकरण संस्कार किया जाता है। रामचरितमानस में भी नामकरण का समय जानकर महाराज दशरथ ने कुलगुरु का आह्वान किया।

नामकरन कर अवसरु जानो।
भूप वोलि पठए मुनि ग्यानी ॥
करि पूजा भूपति अस भाषा।
धरिअ नाम जो मुनि गुनि राखा ॥

कुलगुरु की पूजा करके राजा ने कहा, 'हे मुनि! आपने मन में जो विचार रखे हों, वे नाम राखिए। तब गुरु वशिष्ठ जी ने चारों भाइयों के नाम राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न रखे।

**(ज) चूड़ाकरण के समय**

भगवान् श्री राम वहुत प्रकार से वाल लीलाएँ करते हुए अपने भाइयों सहित बड़े होकर सभी कुटुम्बियों को सुख देने वाले हुए तब गुरुजी ने जाकर चूड़ाकर्म संस्कार किया।

चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई।
विप्रन्ह पुनि दछिना वहु पाई ॥

**(झ) यज्ञोपवीत संस्कार**

भए कुमार जबहिं सब भ्राता।
दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता ॥

ज्यों ही चारों भाई कुमारावस्था को प्राप्त हुए त्यों ही गुरु, पिता और माता ने उनका यज्ञोपवीत संस्कार कर दिया।

(ञ) सुख-सम्पत्ति दाता गुरु कुलगुरु ही होते हैं।

शिष्य का योग-क्षेम भी कुलगुरु ही करते हैं। इसका दृष्टान्त भी हमें रामचरितमानस के बालकाण्ड में ही मिलता है। जब महाराज दशरथ ने शीशे में अपना मुख देखा तो उनके सिर पर उन्हें एक सफेद वाल दिखायी पड़ा। उन्होंने सोचा कि अब बुढ़ापा तो आ पहुँचा परन्तु अभी तक हमें पुत्र-प्राप्ति तो हुई नहीं। ऐसा सोचकर ही वे बड़े दुखित हुए और उसका उपाय प्राप्ति की कामना से गुरु गृह गये तथा उनके श्री चरणों में विनती करने लगे और अपने सब दुःख सुख गुरुदेव को सुनाये।

गुर गृह गयउ तुरत महिपाला।
चरन लागि करि विनय बिसाला ॥
निज दुख सुख सब गुरहि सुनायउ।

तब गुरु वशिष्ठजी महाराज ने उन्हें वहुत प्रकार से धैर्य बँधाते हुए कहा,

धरहु धीर होइहहिं सुतचारी ।
त्रिभुवन विदित भगत भयहारी ।।

हे रघुश्रेष्ठ धैर्य धरो, तुम्हारे चार पुत्र होंगे जो तीनों लोकों में प्रसिद्ध और भक्तों के भय को हरने वाले होंगे ।

## विद्या गुरु

उपनिषदों में दो प्रकार की विद्याओं का वर्णन किया गया है, परा और अपरा । परा विद्या आत्मा विषयक ज्ञान से सम्बन्धित है और उसके लिए सद्गुरु अर्थात् अध्यात्म गुरु की आवश्यकता होती है । अपरा विद्या ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द एवं ज्योतिष के ज्ञान से सम्बन्धित होती है और इस विद्या के दाता को विद्या गुरु कहते है । जब बालक विद्या ग्रहण के योग्य हो जाता है तो उसे गुरु-गृह जाकर विद्या ग्रहण करनी चाहिए । मानस में भी भगवान् श्री राम और उनके भाइयों को गुरुगृह जाकर विद्या प्राप्ति का प्रसङ्ग मिलता है ।

गुर गृहँ गए पढ़न रघुराई ।
अलप काल विद्या सब आयी ।।

अन्यत्र भी एक प्रसङ्ग मिलता है कि जब भगवान् राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा कर तथा सीता स्वयंवर सम्पन्न कर घर लौटे तो माताएँ सोचने लगी कि कोमलाङ्ग भगवान् राम ने बड़े-बड़े राक्षसों को मारने की विद्या कहाँ से पायी ? यह कैसे सम्भव हुआ ? तब बलैया लेते हुए माताओं ने कहा था,

"मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी ।
ईस अनेक करवरें टारी ।।
मख रखवारी करि दुहुँ भाई ।
गुरु प्रसाद सब विद्या पाईं ।।

—हे तात् ! मैं बलैया लेती हूँ, विश्वामित्र मुनि की कृपा से ईश्वर ने तुम्हारी बहुत सी बलाओं को टाल दिया । दोनों भाइयों ने यज्ञ की रखवाली करके गुरुजी के प्रसाद से सब विद्याएँ पायीं ।

इस प्रसङ्ग में मुनि विश्वामित्र जी एक दुर्लभ विद्या गुरु हैं । जो साधारण विद्या भगवान् राम ने गुरु गृह में पायी थी, महामुनि विश्वामित्र के द्वारा प्रदत्त विद्याएँ कुछ भिन्न थीं और माताओं ने यह सब जान लिया था ।

राक्षसों का विनाश और धर्म की स्थापना भगवान् के अवतार का लक्ष्य था और इसी कार्य के लिए ही विश्वामित्र जी उन्हें वह विद्या देना चाहते थे जो उनके काम आएगी और इस कार्य का श्री गणेश भी विश्वामित्र जी के आश्रम में हुआ । दो बातें उनके मन में उठीं

"हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी ।"
एवं "प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा ।।

हरि के बिना राक्षसों का नाश नहीं हो सकता । और दूसरी बात यह कि प्रभु तो इस कार्य के लिए अवतरित हो चुके हैं । अतः वे महाराज दशरथ के पास गये और उनसे याचना की,

असुर समूह सतावहिं मोही ।
मैं जाचन आयउँ नृप तोही ।।
अनुज समेत देहु रघुनाथा ।
निसिचर बध मैं होब सनाथा ।।

देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अग्यान ।
धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं इन्ह कहँ अति कल्यान ।।

हे राजन् ! असुरों के समह मुझे बहुत सताते हैं । इसीलिए मैं तुमसे कुछ माँगने आया हूँ । छोटे भाई समेत श्री रघुनाथ जी को मुझे दो तो असुरों के विनाश होने पर मैं सनाथ अर्थात् सुरक्षित हो जाऊँगा । हे राजन् ! प्रसन्न मन से इनको दो, मोह और अज्ञान को छोड़ दो । हे स्वामी ! इससे तुमको धर्म और सुयश की प्राप्ति होगी और इन बालकों का कल्याण होगा ।

दोनों बालकों को साथ लेकर रास्ते में ताड़का का वध कराते हुए मुनिवर अपने आश्रम की ओर बढ़ने लगे । उसी समय मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र जी ने

प्रभु की लीला को पूर्ण करने के लिए अस्त्र-शस्त्र और विद्या दी।

तब रिषि निज नाथहि जियँ चीन्ही।
विद्या निधि कहुँ विद्या दीन्ही॥
जाते लाग न छुधा पिपासा।
अतुलित बल तनु तेज प्रकासा॥

आयुध सर्ब समर्पि कै प्रभु निज आश्रम आनि।
कंद मूल फल भोजन दीन्ह भगति हित जानि॥

ऋषि विश्वामित्र ने अपने प्रभु को पहचानते हुए कि वे यद्यपि विद्या के भण्डार हैं (तब भी उनकी लीला को पूर्ण करने के लिए) तब भी उन्हें ऐसी विद्या दी जिससे भूख-प्यास न लगे और शरीर में अतुलित बल और तेज का प्रकाश हो।

सब अस्त्र-शस्त्र समर्पण करके मुनि प्रभु श्री रामजी को अपने आश्रम में ले आए। माताएँ ऐसा जानती थीं इसलिए उन्होंने गुरु विश्वामित्र जी की कृपा का वर्णन करते हुए कहा था,

गुरु प्रसाद सब विद्या पाई॥

इसी प्रकार व्यवहार में और भी गुरु हो सकते हैं किन्तु अध्यात्म गुरु तो सद्गुरु हैं और वे एक ही होते हैं। इसका प्रसङ्ग हम बाद में लेंगे।

□

# योगिराज अरविन्द

**जनार्दन द्विवेदी 'दीन'**

भारतवर्ष की शस्य-श्यामला वंगभूमि की वह अपूर्व विलक्षणता है कि इस भूमि ने राष्ट्र को गुलामी की बेड़ी से मुक्त करने के लिए जहाँ अपनी अभूतपूर्व भूमिका का निर्वाह किया है वहाँ उसने अनेक संत-महात्माओं को अभिभूति कर राष्ट्र की चिन्तन धारा को उसकी प्राचीन संस्कृति के अनुरूप सजाया एवं संवारा है।

योगिराज अरविन्द उसी चिंता धारा की कड़ी के रूप में प्रातः स्मरणीय हैं। उन्होंने इस धरती को ही स्वर्ग का स्वरूप और सौन्दर्य देने का प्रयास किया।

उनके द्वारा विरचित अनमोल ग्रन्थ 'दिव्य जीवन' अर्थात् 'द लाइफ डिवाइन' अर्थात् 'दिव्य जीवन' में सृष्टि की सभी समस्याओं पर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया गया है। इस पावन ग्रन्थ में हम ज्ञान, भक्ति और कर्म का एक अपूर्व समन्वय पाते हैं।

ज्ञान, भक्ति और कर्म के इस एकान्त साधक का आविर्भाव १५ अगस्त, १८७२ को कलकत्ता में हुआ था। सात वर्ष की अवस्था में ही शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनके माता-पिता ने उन्हें इंग्लैण्ड भेज दिया। वहाँ उन्होंने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में १८९० तक अध्ययन किया। उन्हें इंडियन सिविल सर्विस परीक्षा में सफलता भी मिल गयी पर घुड़सवारी का परीक्षामें सफल नहीं हो सके, क्योंकि बुद्धि में तीव्र होते हुए भी स्वभाव से कोमल, और सरस अरविन्द लेने किसी भी जीव से शारीरिक श्रम के अत्यंत विरोधी थे।

सन् १८९३ में वे इंग्लैण्ड से भारत वापस आये। महाराज बड़ौदा ने उनको समादृत कर

अपने राज्य के मुख्य प्रशासक के पद पर नियुक्त किया। वहाँ उन्होंने अपनी कुशाग्र बुद्धि से सबको वशीभूत कर लिया। विशेषतया शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त विकास कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। वास्तव में उनकी प्रतिभा के लिए शिक्षा का क्षेत्र ही अनुकूल था।

उस समय समग्र भारत वर्ष में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति असंतोष की भावना व्याप्त थी। अरविन्द इस स्वातंत्र्य चेतना के अग्रदूत बन गये। मातृभूमि से इस लगाव के कारण इस क्रान्तिचेता व्यक्ति को तीन बार कारागार की यातनाएँ झेलनी पड़ीं, किन्तु ये कारागार ही उनके लिए वरदान साबित हुए। उनको वहां स्वतंत्र-चिन्तन का अवसर उपलब्ध हुआ और उनके समय का अधिकांश भाग साधना एवं चिंतन में व्यतीत होने लगा।

कारावास की सजाएँ भुगतने के बाद उनके हृदय में एकान्त प्रवास का आग्रह जाग उठा। फलतः उन्होंने पांडिचेरी के लिए प्रस्थान किया। यह स्थान तब फ्रान्स के अधिकार में था और इस प्रकार वह ब्रिटिश अधिकार क्षेत्र के बाहर था।

वहां उन्हें स्वतंत्र-चिन्तन मनन का अनुकूल परिवेश हाथ लगा। भारत में रहने पर वे सदैव अंग्रेजों के कोपभाजन बने रहते थे क्योंकि क्रान्तिकारियों की सूची में उनका नाम अग्रगण्य था।

वहां उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा तथा दार्शनिक रूझान और विचारों के अनुकूल आध्यात्मिकता और भौतिकता में एक अपूर्व समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की।

उनका कथन है कि मनुष्य का अंतःकरण तब पूर्ण विकसित होता है जब उसमें दिव्य भावनाओं का संचार होता है। ये दिव्य भावनाएँ साधना के सहारे शनैः शनैः मनुष्य की अंतरात्मा में प्रविष्ट होती हैं। इन दिव्य-भावनाओं के अवतरण के बाद मनुष्य की समस्त क्षुद्र भावनाएँ सदा के लिए तिरोहित हो जाती है और वह लोक-मंगल की ओर अग्रसर होता है। अरविन्द मानवता के पुजारी के साथ ही आर्यवाणी के प्रबल समर्थक थे। उनकी वाणी युग-युगान्तर के लिए मानवता का अमर सन्देश है।

साधना के संबंध में उनका विचार था कि साधना का भाव-पक्ष ही पराशक्ति का अवतरण है। इस पराशक्ति के अवतरण के लिए साधना की अपेक्षा होती है। यह शक्ति तब अवतरित होती है जब हृदय पूर्ण शुद्ध हो जाता है। पूर्ण शुद्धि के लिए मनुष्य को धैर्य के साथ साधना मार्ग में प्रवृत होने की अपेक्षा होती है।

वे कहते हैं कि चित की शुद्धि और पराशक्ति के अवतरण का कार्य शनैःशनै चलता रहता है— ऐसा नहीं कि चित्त शुद्धि पूर्णतः हो जाने के बाद ही पराशक्ति का अवतरण होता है।

साधना के संबंध में उनके विचार सुलझे हुए हैं। उनका मानना है कि ध्यान, तपस्या और आराधना ही साधना के मुख्य अंग हैं। ध्यान में अपनी चेतना को भीतर एकाग्र करना होता है। तपस्या में अपनी संकल्प शक्ति को दृढ़तर करना और आराधना में भगवान के चरणों में अपने को पूर्ण समर्पित कर देना होता है। यही आत्म-समर्पण की भावना ही मनुष्य को भगवान के पास पहुँचा देती है।

भगवान की कृपा पर दृढ़विश्वास रखना भक्ति का प्रथम सोपान है। अद्वैतकी भक्ति के मार्ग में कविता और संगीत भी साधन हो सकते हैं। ब्रजभूमि के भक्तों की संगीत साधनाओं के पीछे भगवान की अद्वैतकी भक्ति की भावना ही पूर्णतः परिलक्षित हो रही है।

अरविन्द की मान्यता है कि भक्ति की प्राप्ति के बाद ज्ञान की प्राप्ति सुलभ है। वास्तविकता तो यह है कि साधना के अनुपात में फल नहीं मिलता

बल्कि फल के लिए अंतरात्मा की सच्चाई की आवश्यकता पड़ती है। अतः साधक को उन्होंने अपने हृदय को निर्मल एवं शुद्ध बनाने के लिए विशेष जोर दिया है।

उनकी दृष्टि में दो वस्तुएँ अत्यंत आवश्यक हैं एक भगवती माता की कृपा और दूसरी श्रद्धानिष्ठा से परिपूर्ण अंतःकरण।

वे स्पष्ट कहते हैं कि भगवान की करुणा की धारा सारे जगत में प्रवाहित हो रही है। यदि हम सच्चे हैं तो अवश्य वहां पहुंचेंगे पर उसके लिए समय निर्धारित करना व्यर्थ है। उनका दर्शन है कि भगवान सत् चित् आनन्द से परिपूर्ण हैं। वे जगत के सब पदार्थों में अपनी शक्ति का विस्तार करते हैं और समय पाकर उसे समेट भी लेते हैं। सारे जगत में उनकी भागवत् शक्ति फैली हुई है।

वे मानते हैं कि आत्मा का दिव्यीकरण भगवत-कृपा का प्रथम सोपान है। यह दिव्यीकरण साधानाओं के द्वारा ही सम्भव है।

पांडिचेरी में उनके द्वारा स्थापित आश्रम में इस साधना का प्रशिक्षण दिया जाता है। देश-विदेश के लोग इस आश्रम में प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए एकत्र होते रहे हैं।

कविवर पंत के उनके संबंध में उद्‌गार हैं—

'वे इस युग की महान विभूति हैं। विश्व कल्याण के लिए उनकी देन अत्यंत महत्वपूर्ण है। यहाँ तक कि उस देन के समक्ष इस युग के वैज्ञानिकों की देन जो अणुशक्ति के नाम से प्रसिद्ध है, अत्यंत तुच्छ है।'

श्री अरविन्द निश्चय ही एक अवतारी पुरुष थे। मानवता के कल्याण के लिए ही भगवान ने उनको इस धरती पर भेजा था। उन्होंने वेद उपनिषदों की वाणियों को आत्मसात् कर अपने जीवन में ही उसका व्यावहारिक रूप देकर समग्र मानवता का कल्याण किया। आज उनके विचारों के प्रचार-प्रस र द्वारा विनाश के कगार पर बैठे इस ससार को बचाया जा सकता है।

उन्होंने ५ दिसम्बर, १९५० को अपनी भौतिक लीलाओं का संवरण कर सारे आध्यात्मिक जगत को शोक-सागर में निमज्जित कर दिया। एक प्रकार से अरविन्द जहाँ क्रान्ति एवं स्वाधीनता के पर्याय हैं वहाँ दूसरी ओर आध्यात्मिक क्रान्ति के अग्रदूत भी।

कविवर पंत के शब्दों में उस महान योगी के प्रति हमारी अमिट श्रद्धा उनके पावन-चरणों में निवेदित है :—

**"श्री अरविन्द सभक्ति प्रणाम,**
**विश्वात्मा के नव विकास तुम,**
**परम चेतना के प्रकाश तुम,**
**ज्ञान-भक्ति श्री के विलास तुम,**
**पूर्ण प्रणाम।"**

---

जिसके हृदय की पुस्तक खुल चुकी है, उसे अन्य किसी पुस्तक की आवश्यकता नहीं रह जाती।

**—स्वामी बिवेकानन्द**

# आज की परिस्थिति में हमारी जातीय संहति ।

**स्वामी श्रीकृष्णानन्द**
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द सोसाईटी, जमशेदपुर ।

आज देश की परिस्थिति बहुत ही भयावह है । धर्म और राजनीति के युद्ध का प्रभाव आज साधारण व्यक्तियों के पारिवारिक जीवन, शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में पहुँच गया है । यदि ऐसी परिस्थिति और कुछ दिन तक चले तब साधारण व्यक्तियों का जीवन बहुत दुःखपूर्ण हो जाएगा । इस परिस्थिति में हमारा कर्त्तव्य क्या हो सकता है ? आज हमारे समक्ष एक ही कर्त्तव्य है, वह है, मानव एकता बनाना । आज हमारे देश को जिस चीज की आवश्यकता है वह है वीर्यवान, तेजस्वी, श्रद्धासम्पन्न और दृढ़ विश्वासी अकपट और सच्चे हृदयवान नवयुवकों की । जो सच्चे हृदय से भारतीय कल्याण का व्रत ले सकें । जो मन और मुख एक बनाकर देश की सेवा को ही केवल कर्त्तव्य समझ सकें ।

श्रीरामकृष्णदेव ने कहा : मनुष्य उसी को कहा जाता है जो अपने मान पर अर्थात् अपने देवत्व पर प्रतिष्ठित है । स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा : "हे मनुष्य, तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो । तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो ।"

प्रत्येक मनुष्य के अन्दर में देवत्व ही रहता है । एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में फर्क हो सकता है । लेकिन देवत्व में कोई फर्क नहीं है । केवल अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार हमने अपना साधन-मार्ग बनाया । हो सकता है कि एक-दूसरे के साधन-मार्ग से अलग हो । जैसे एक तालाब में चार घाट हैं । एक घाट से हिन्दू ने पानी लिया तो उसको "जल" कहा । दूसरे घाट से एक मुस्लिम ने पानी लिया तो उसी को कहा "पानी" । तीसरे घाट से एक ईसाई ने पानी उठा लिया तो उसको कहा "वाटर" । ऐसे और भी कोई बोला "एकोया" । इसमें पानी का नाम केवल परिवर्तित हुआ । लेकिन असली पानी में कोई परिवर्तन नहीं आया । ऐसे ही ईश्वर के विभिन्न प्रकार के नाम हैं । ईश्वर में कोई विभिन्नता नहीं है । विभिन्न साधक अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार विभिन्न नामों से ईश्वर को पुकारते हैं । एक ध्रुव सत्य हमारे हृदय में प्रकटित हो जाय तो हम सचमुच एक आदर्शवान मानव में परिणत हो जाएँगे ।

आज के युद्ध में जयलाभ करने के लिए आज भारतवासियों का आदर्श होना चाहिए :

"हम सभी मानव हैं, मानवधर्म हमारा धर्म है ।

स्वामी विवेकानन्दजी के मुताबिक इस युग का मूलमन्त्र है :

"आन्तर्जातिक संहति, आन्तर्जातिक संघ, आन्तर्जातिक विधान"

आज की परिस्थिति का सामना करने के लिए हम सभी एकजुट होकर अपने समक्ष एकमात्र आदर्श यह रखें कि मधुर मानवीय सम्बन्ध बनाना हमारा आदर्श है ।

अन्त में श्रीभगवान से मेरी प्रार्थना है कि वे हमें शक्ति प्रदान करें जिसके सहारे हम वर्तमान बाधाओं को लाँघ कर मातृभूमि को मानव मन्दिर में परिणत कर सकें ।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

# स्वामी अद्भुतानन्द की जीवन-कथा

चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द

१८९४ ई० के ५ सितम्बर को स्वामीजी की पाश्चात्य-विजय के उपलक्ष्य में टाउनहाल में जो विराट् सभा हुई, उसकी अध्यक्षता राजा प्यारीमोहन मुखोपाध्याय ने की थी और 'इण्डियन मिरर' के सम्पादक श्री नरेन्द्रनाथ सेन तथा 'इण्डियन नेशन' के सम्पादक श्री एन० एन० घोष ने उसमें भाषण दिये थे। लाटू महाराज उपेन बाबू के साथ उस सभा में गये थे।

स्वामी बोधानन्द (हरिपद महाराज) कहते हैं—"उन दिनों बीच-बीच में वे पटलडांगा के श्रीयुत खगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के घर जाया करते थे। गड़पारा के गोपालचन्द्र घोस (हुटको गोपाल) भी वहाँ आते थे। दोनों की बातचीत में बड़ा तर्क-वितर्क होता था।"

१८९५-९६ ई० के किसी समय लाटू महाराज जहाज से पुरी गये। (बलराम बाबू के भतीजे) श्रीयुत निमाई चरण बोस ने बताया—"मेरी उमर तब दस-ग्यारह साल की रही होगी, स्कूल में पढ़ता था। उसी काल में एक संन्यासी तथा एक अन्य व्यक्ति गाड़ी से पुरी आकर 'शशी निकेतन' में ठहरे। ताऊजी (हरिवल्लभ बाबू) उन दिनों पुरी में ही थे। लाटू महाराज को देखकर ताऊजी बड़े आनन्दित हुए। उन्होंने तुरन्त सरकार महाशय को बुलाकर उनके खाने-पीने तथा विविध स्थानों को दिखाने की व्यवस्था करा दी। मुझे याद आता है कि उस बार वे भुवनेश्वर-दर्शन को गये थे, लौटकर वे हमारे कटक के मकान में चले गये। कटक में वे काफी दिन ठहरे थे। फिर कटक से वे कलकत्ता लौट आये। लौटते समय वे जहाज में ही आये थे।"

उपेन बाबू ने एक दिन हम लोगों को बताया था 'लाटू महाराज एक बार पुरी गये, उनके जहाज का किराया मैंने दिया था।"

वे एक बार और भी १९०३ ई० में पुरी गये थे। उस बार उन्होंने रेलगाड़ी में यात्रा की थी। उस बार झूलन यात्रा पर्व के अवसर पर बाग बाजार के शशी डाक्टर के भानजे ननी बाबू उन्हें साथ ले गये थे। इस बार उन्होंने पुरी में एक महीना निवास किया था।

उनकी प्रथम बार की पुरी यात्रा से सम्बन्धित दो घटनाएँ हैं और वे दोनों लाटू महाराज से ही ज्ञात हुई हैं। बलराम मन्दिर में एक भक्त से उन्होंने कहा था—"अरे, पुरी में तो जगन्नाथदेव दारुब्रह्म के रूप में हैं। बड़े जाग्रत देवता हैं। जिसका जैसा भाव है, जैसे संस्कार हैं, उसको वे उसी रूप में दर्शन देते हैं। मैंने तो उनसे यही प्रार्थना की थी, 'आपका जो रूप देखकर महाप्रभु के नेत्रों से जल की धारा बह निकलती थी, दया करके एक बार मुझे भी अपना वही रूप दिखाइए। मैं भला आपका तत्व क्या जानूँ ?' इस प्रकार उनकी शरण लेकर मैं वहीं पड़ा रहता था। एक दिन उन्होंने मेरी प्रार्थना पूर्ण की। वहाँ से लौटते समय मैंने उनसे (जगन्नाथजी से दो चीजें माँगी थीं, 'ज्यादा घूमना-फिरना न पड़े (अर्थात् एक जगह बैठकर ही उन्हें

पुकार सकूँ) और मैं जो कुछ खाऊँ वह पच जाय'।" दूसरी प्रार्थना को सुनकर एक भक्त ने लाटू महाराज से पूछा, "ऐसी प्रार्थना आपने क्यों की, महाराज ?" इसके उत्तर में लाटू महाराज बोले—"देखो, साधु-संन्यासी को जहाँ जो मिल जाय वही खाकर देह की रक्षा करनी पड़ती है। जानते ही हो कि भिक्षा में कब क्या मिले इसका कोई ठिकाना नहीं। अतः पाचनशक्ति ठीक न रहने पर स्वास्थ्य टूट जाता है और स्वास्थ्य बिगड़ जाने पर मन साधन-भजन में नहीं लगता; इसीलिए मैंने ऐसी प्रार्थना की थी।"

श्री जगन्नाथ के बारे में परवर्ती काल में उन्होंने हम लोगों से कहा था "ऐसा तीर्थ और कहाँ मिलेगा। वहाँ सब समान हैं, कोई जाति-भेद नहीं है। यह क्या कम बात है! वहाँ कितनी सुविधा है—प्रसाद खरीदकर लोगों को खिला सकते हो, खुद भी ला सकते हो, कोई झंझट नहीं है। पैसे देने पर तुम्हारे घर पर भी प्रसाद पहुँचा देने की व्यवस्था है। वहाँ साधन-भजन करने की कितनी सुविधा है। इतना बड़ा मन्दिर है, जहाँ खुशी बैठ जाओ, कोई परेशान करने नहीं आयेगा। और भी निर्जन की इच्छा हो तो समुद्र के किनारे चले जाओ। वहाँ कितने साधु-महापुरुष पड़े हैं; शंकराचार्य, रामानुज, महाप्रभु ने वहाँ साधना की है। इतने पवित्र स्थान जगत् में और कितने हैं, बताओ तो!"

लगता है निम्नलिखित बातें उन्होंने १८९५-९७ ई० के दौरान की कही हैं—"कलकत्ते में (किसी दिन भिक्षा न मिलने पर उपेन ठाकुर से पैसा लेकर पूरी और आलू की सब्जी खरीदकर खा लेता था। उनकी दया से सब हजम हो जाता था, कोई समस्या नहीं थी। किसी गृही भक्त के घर खाने पर उनके समय के अनुसार जाना पड़ता था, नहीं तो वे लोग नाराज होते थे। यही सब देखकर मैंने उन लोगों के घर खाना बिल्कुल बन्द कर दिया।" उन दिनों उसी प्रकार पैसे लेकर खरीदकर खा लेता था, बड़ा स्वाधीन रहता था, किसी की बात नहीं सुननी पड़ती थी। सारे दिन अपने ही आनन्द में डूबा रहता था।"

'श्रीरामकृष्ण-पोथी' ग्रन्थ के रचयिता श्रीयुत अक्षय कुमार सेन के मुख से हमने सुना है कि जिस वर्ष उन्होंने दक्षिणेश्वर में पहली बार 'पोथी' का पाठ किया था, उस वर्ष लाटू महाराज ने स्वयं ही वहाँ उपस्थित रहकर उनका पाठ सुना था। यह भी सुनने में आया है कि १८९६ ई० में दक्षिणेश्वर में जो ठाकुर का जन्मोत्सव हुआ था उसी में अक्षय बाबू ने सबके समक्ष अपनी 'पोथी' का पाठ किया था। उन्होंने हमें यह भी बताया कि लाटू महाराज ने 'श्रीरामकृष्ण-पोथी' सुनकर आनन्दपूर्वक कहा था—"अक्षय बाबू, आपने सामान्य लोगों का बड़ा उपकार किया है। ऐसे सुन्दर ढंग से उनकी बातें लिखी हैं कि स्त्रियाँ भी उन्हें समझ सकें।"

१८९६ ई० में लगातार आठ महीनों तक लाटू महाराज प्रतिदिन सन्ध्या के समय बड़ाबाजार के मीरबहर अथवा प्रसन्न कुमार ठाकुर के घाट पर दीख पड़ते थे। जिन्होंने हमें इस तथ्य से अवगत कराया है, उनका नाम है—गजू भट्टाचार्य। गजा ग्राम में निवास करने के कारण ठाकुर के भक्तगण उन्हें गजू कहा करते थे। पहले-पहल तो वे लाटू महाराज को पहचान नहीं सके थे। उन दिनों लाटू महाराज के सिर पर बड़े-बड़े बाल और बढ़ी हुई दाढ़ी के कारण, वे पहचान में नहीं आते थे। उन्होंने हमें जो कुछ बताया था, वह निम्नलिखित है—"बड़ा बाजार के मीरबहर घाट पर मैं प्रतिदिन एक संन्यासी को पाठ सुनते हुए देखता और समाप्त हो जाने पर उन्हें नमस्कार कर आता। वे किसी के साथ बात नहीं करते थे, बस चुपचाप एक किनारे बैठे रहते। वे किसी से कुछ माँगते न थे और न ही मैं कभी उन्हें कोई उपदेश देते हुए देखता। एक दिन बातचीत के दौरान मैंने अपने

मित्र पटल बाबू से उक्त संन्यासी की बात कही। उन दिनों प्रसन्न कुमार ठाकुर के घाट पर पाठ जारी था। संन्यासी को देखने के लिए एक दिन वे मेरे साथ वहाँ गये। उन्हें देखते ही पटल बाबू के मन में न जाने कैसे सन्देह हुआ। वे बोले, 'ये तो देखता हूँ हमारे लाटू महाराज हैं। पाठ समाप्त हो जाने पर उन्होंने उनसे कहा, 'आप यहाँ कैसे, महाराज! साथ चलिए। स्वामीजी (विवेकानन्द) शीघ्र ही कलकत्ता आने वाले हैं।' पटल बाबू की बात पर लाटू महाराज ने पूछा, 'कब आ रहे हैं?' स्वामीजी ठीक किस दिन कलकत्ता आ रहे हैं, यह बात हममें से कोई भी नहीं जानता था। हमें मौन देखकर लाटू महाराज अपने आप से फुसफुसाकर कुछ कहते रहे, फिर हमसे बोले, 'चलो, तुम लोगों के साथ जाऊँगा।' अतीव आनन्द के साथ हम उन्हें अपने नन्दराम सेन गली में स्थित घर में ले आये। अगले दिन नाई बुलाकर हमने उनका क्षौरकर्म करा दिया। दो-चार दिन हमारे घर रहकर वे बलराम बाबू के घर चले गये।"

हमने लाटू महाराज के मुख से सुना है कि बलराम मन्दिर में निवास करने के लिए शान्तिराम बाबू ने उनसे बड़ा अनुरोध किया था। उन्होंने बताया था "जब गंगा के किनारे रहकर और दुकान की पूरी-तरकारी खाकर दिन बिता रहा था, उसी काल में एक दिन शान्तिराम बाबू विशेष रूप से बोले, 'हमारे यहाँ रहिए न, महाराज!' मैंने तब शान्तिराम बाबू से कहा, 'मेरे खाने-पीने का कुछ निश्चित नहीं रहता, आप लोग क्यों मेरे लिए इतना झंझट पालेंगे? मेरा तो पूरी तरकारी और भुने चने खाकर अच्छी तरह दिन बीत रहे हैं।' इस पर शान्तिराम बाबू ने जानते हो क्या कहा?—"हमारी इतनी बड़ी गृहस्थी है, इतना खर्च होता है। उसमें एक पाव चावल का भात और एकपाव आटे की रोटियाँ समझ लेंगे कि बरबाद हो गया। आप बिल्कुल भी चिन्ता न की जए। आपके कमरे में दोपहर और रात को खाना रख दिया जाएगा—जब इच्छा होगी, खाइएगा।' यह बात सुनने के बाद मैं उनका अनुरोध नहीं टाल सका। शान्तिराम बाबू ने ठीक भाई समान स्नेह दिखाया। उनके स्नेह के बन्धन में पड़कर मैं वहीं रह गया।"

उस वर्ष के अन्तिम भाग में वे बलराम मन्दिर में निवास कर रहे थे, यह बात एक अन्य घटना द्वारा भी प्रमाणित होती है। स्वामीजी के बुलाने पर अक्तूबर में अभेदानन्दजी ने इंग्लैण्ड की यात्रा की। उन दिनों लाटू महाराज बलराम मन्दिर में रहते थे और वहीं से वे अभेदानन्दजी को जहाज में छोड़ने गये थे। हमने उन्हीं के मुखसे सुना है कि बन्दरगाह से लौटकर वे बलराम मन्दिर में आये थे।

१८ फरवरी १८९७ ई० को स्वामीजी कलकत्ता आये और उसी दिन दोपहर को पशुपति बोस महाशय के घर चले गये। वहाँ पर सभी स्वामीजी से मिलने को गये थे परन्तु लाटू महाराज नहीं गये। इसीलिए स्वामीजी ने एक गुरुभाई से उनकी बाबत पूछा। गुरुभाई के मुख से उनकी उपस्थिति की बात जानकर स्वामीजी लोगों के बीच उन्हें ढूँढ़ने लगे। काशी के विभूति बाबू ने लाटू महाराज के मुख से सुना था—"जब स्वामीजी उस देश से लौट आये, तो कई साहब शिष्य भी उनके साथ थे। साहब लोग शिष्य हुए हैं इसीलिए स्वामीजी को अहंकार हुआ होगा, ऐसा सोचकर मैं उनसे मिलने नहीं गया। परन्तु स्वामीजी ने मुझे ढूँढ़ निकाला और बातें कीं। उन्होंने पूछा, 'सब लोग आये, पर तू क्यों नहीं आया?' इस पर मैंने कहा, 'मैंने सोचा कि उस देश में साहब और मेम लोगों के साथ रहने के बाद तुम्हें क्या मेरी बात याद होगी? यही सोचकर मैं मिलने नहीं आया।' यह बात सुनने के बाद स्वामीजी मेरा हाथ पकड़कर बोले, 'तू मेरा वही लाटू भाई है और मैं तेरा वही लोरेन भाई हूँ।' तब मैं समझ गया कि स्वामीजी अब भी हम लोगों

को याद रखते हैं, उस देश में जाने से उनके स्नेह में कोई कमी नहीं आयी है। "उस दिन वहाँ भोजन करने जाते समय स्वामीजी ने मुझसे कहा, 'चल, हम लोग बैठकर खायें। तू भी हमारे साथ बैठकर खायेगा।' उनके कहने पर मैंने वहीं उनके पास ही बैठकर खा लिया। खाते समय सब बेकार की बातें सुनने को मिलीं। इतने लोग एक साथ बैठे थे, और सभी उस देश की बेकार की खबरें जानना चाहते थे। किसी ने भी उनके बारे में नहीं पूछा, जिनकी महिमा से यह सब कार्य हुआ। स्वामीजी ने भी कहा था, 'देखा न, ये लोग कैसी छिछली बातों की खोज लेने वाले हैं! सबने उस देश की खबर पूछी पर किसी ने भी यह जानने की इच्छा नहीं व्यक्त की कि किस शक्ति के द्वारा यह सम्भव हो सका! सभी सोचते हैं कि यह सारा काम मैंने किया है। अरे, उनकी कृपा के बिना क्या कभी मेरे द्वारा इतना कार्य हो सकता था।' मैं भली भाँति समझ गया कि स्वामीजी के मन में तब भी 'अहं' का प्रवेश नहीं हुआ है।" मैंने देखा कि विलायत से लौटने के बाद ही स्वामीजी साहबी पोशाक त्यागकर वही दो रुपये वाली चादर और ढाई रुपये वाले जूते पहनने लगे। इतना सब मान-सम्मान था, पर सब उठाकर फेंक दिया।" उस दिन अपराह्न में स्वामीजी गुडविन और सेवियर दम्पति को साथ लेकर काशीपुर के गोपाल लाल शील के उद्यान-भवन में चले गये। और लाटू महाराज बलराम मन्दिर में लौट आये। "स्वामीजी के आने के दस दिन के भीतर ही (२८ फरवरी १८९७ ई० को) शोभा बाजार के राजभवन में एक बड़ी सभा हुई थी, समझे! वहीं पर मैंने पहले-पहल स्वामीजी का लेक्चर सुना था। मैंने स्पष्ट रूप से देखा कि स्वामीजी की फायर (भाषण) करने की शक्ति बढ़ गयी है। उनका व्याख्यान सुनते-सुनते लोगों का उत्साह बढ़ता ही जा रहा है, ऐसा मुझे स्पष्ट बोध हुआ।"

१८९७ ई० में श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव के जन्मोत्सव के अवसर पर लाटू महाराज दक्षिणेश्वर गये थे। उस दिन का वृत्तान्त जैसा हमने उनके मुख से सुना था उसे यथावत् प्रस्तुत करते हैं— "स्वामीजी उस देश से लौट आये हैं यह सुनकर उस बार बहुत बड़ी संख्या में लोग दक्षिणेश्वर गये थे। उत्सव के दिन दक्षिणेश्वर में उन्हें देखने के लिए इतनी भीड़ हुई कि मन्दिर का इतना बड़ा आँगन और बगीचा लोगों से भर गया था। वहाँ मैंने देखा कि गिरीश बाबू पंचवटी के नीचे बैठे हुए हैं। स्वामीजी ने उन्हें देखते ही (अपने साहब शिष्यों के समक्ष ही) उन्हें दण्डवत किया। उन्होंने भी स्वामीजी को प्रणाम किया। गिरीश बाबू की ओर इंगित करते हुए उन्होंने एक साहब शिष्य को न जाने क्या कहा। वह सब अँग्रेजी बातें मेरी समझ में नहीं आयीं। स्वामीजी के चले जाने के बाद किसी ने स्वामीजी के बारे में कुछ टिप्पणी की, जिस पर गिरीश बाबू ने नाराज होकर कहा था, 'ये मूर्ख स्वयं तो अच्छे नहीं होंगे और दूसरों की अच्छाई भी नहीं सह सकेंगे। इन दुष्टों की किसी काल में क्या कोई गति मिलेगी? वे (ठाकुर) कहा करते थे कि ये लोग (अर्थात् नरेन आदि) सूर्योदय के पूर्व के निकाले हुए मक्खन हैं; ये लोग क्या फिर जल में मिल सकते हैं? उन लोगों को यदि मैं अपनी ही आँखों से भी कोई अनुचित कर्म करते देखूँ, तो यही कहूँगा कि उन्होंने अनुचित नहीं किया, वे कर ही नहीं सकते। मेरी अपनी ही आँखों में दोष होगा; अपनी आँखें निकाल डालने को प्रस्तुत हूँ, परन्तु उन लोगों ने अनुचित किया है, ऐसा नहीं कह सकूँगा।' देखो! लोरेनभाई पर गिरीश बाबू का कैसा विश्वास था!

"विवेकानन्द-भाई ने आलमबाजार मठ में एक दिन शशीभाई से कहा था, 'शशी, तू मुझसे खूब प्रेम रखता है न?' शशीभाई ने ज्योंही कहा, 'हाँ, तुमसे बड़ा स्नेह करता हूँ।' त्योंही स्वामीजी

उनसे बोले, 'जो कहूँगा, करोगे?' उत्तर मिला, 'हाँ।' आदेश हुआ, 'तो फिर चितपुर के फौजदारी भवन के मोड़ पर से अच्छी नरम और ताजा पाव-रोटी ले आ।' विवेकानन्द-भाई शशीभाई की परीक्षा कर लेना चाहते थे। वह तो ब्राह्मण का लड़का जो ठहरा! इसीलिए देख लेना चाहते थे कि उसमें छुआछूत का भाव है या नहीं। परन्तु शशीभाई में निष्ठा होने के बावजूद शुचि-अशुचि का भाव नहीं था। इसीलिए वह हँसी-खुशी शाम को पाँच बजे सब लोगों के सामने ही जाकर पाव-रोटी खरीद लाया। पावरोटी देखकर विवेकानन्द-भाई को बड़ा आनन्द हुआ। आखिरकार उन्होंने अत्यन्त स्नेहपूर्वक कहा, 'भाई, तुझे मद्रास जाना होगा।' बिना किसी उज्र-एतराज के शशीभाई मद्रास चला गया। साधु होकर भी काशी तक दर्शन करने की इच्छा नहीं व्यक्त की। नरेनभाई पर उसका ऐसा ही प्रेम-भाव था!

# विवेक शिखा–स्थायी कोष के दाता

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १. | एक भक्तिमती महिला | — | इलाहाबाद | ३,९६० रुपये |
| २. | एक शुभैषी | — | पुणे | २०० रुपये |
| ३. | श्री एस० के० चक्रवर्ती | — | इलाहाबाद | २७ रुपये |
| ४. | श्री पृथ्वीराज शर्मा | — | ठण्डी, राजस्थान | २०० रुपये |
| ५. | श्री दीपक श्रीवास्तव | — | पटना (बिहार) | १०१ रुपये |
| ६. | एक शुभ चिन्तक | — | इलाहाबाद | २५० रुपये |
| ७. | भी० बी० उरकुडे | — | चन्द्रपुर (महाराष्ट्र) | ५० रुपये |
| ८. | श्रीमती शान्ति देवी | — | इन्दौर (मध्य प्रदेश) | १०० रुपये |
| ९. | श्री एस० डी० शर्मा | — | अहमदाबाद | ३०१ रुपये |
| १०. | श्रीमती प्रभा भार्गव | — | बीकानेर (राजस्थान) | २०० रुपये |
| ११. | श्री रामलायक सिंह | — | सम्होता (छपरा) | २५ रुपये |

# विवेक चूड़ामणि

भाष्यकार—स्वामी वेदान्तानन्द

अनुवादक—डॉ० आशीष बनर्जी

विचार की पद्धति :—

मुञ्जादिषीकामिव दृश्यवर्गात्
प्रत्यञ्चमात्मानमसङ्गमक्रियम् ।
विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्वं
तदात्मना तिष्ठति यः स मुक्तः ॥१५३

मूँज में से सींक के समान दृश्य देहादि अनात्म वस्तु समूह से विचार द्वारा द्रष्टा, निलिप्त, निष्क्रिय आत्मा को पृथक जानकर एवं उस शुद्ध आत्मा में सभी अनात्म वस्तु को विलीन कर (आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इस प्रत्यय को आश्रय कर) जो व्यक्ति दृश्यवर्ग के साक्षीरूप में ब्रह्म के साथ अभेद भाव में रहता है वही मुक्त है ।१५३

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां
हृदये सन्निविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं विद्याच्छुक्रममृतमिति ।"
कः ३०२/३/१०

"अंगुष्ठ परिमित अन्तरात्मा पुरुष सर्वजनों के हृदय में सर्वदा अवस्थित है । धैर्यता के साथ मूँज में से सींक की भाँति उसे अपने शरीर से पृथक् करना होगा । शरीर से पृथक उसी को शुद्ध अमृत-स्वरूप ब्रह्म जानो ।"

विचार द्वारा दृश्यपदार्थ समूह से आत्मा को पृथक् रूप में जानना होगा, ऐसा कहा गया । अब इस विचार की पद्धति को निरूपित किया जा रहा है :—

देहोऽयमन्नभवनोऽन्नमयस्तु कोश-
श्चान्नेन जीवति विनश्यति तद्विहीनः ।
त्वक्चर्ममांसरुधिरास्थिपुरीषराशि-
र्नायं स्वयं भवितुमर्हति नित्यशुद्धः ॥१५४

माता-पिता द्वारा खाये गये अन्नादि के परिणाम स्वरूप उत्पन्न यह देह अन्नमय कोश कहलाती है । यह अन्न के द्वारा जीवित रहती है और अन्न न मिलने पर मर जाती है । त्वक-चर्म-मांस-रक्त अस्थि-विष्ठा की समष्टि यह अन्नमय कोश कभी भी नित्य शुद्ध आत्मा नहीं हो सकता ।१५४

कोश अर्थात् आवरण या आधार । तलवार जिस प्रकार म्यान में रहती है, उसी प्रकार अन्नमय आदि पाँच कोश के अन्दर नित्यशुद्ध आत्मा विराजित रहती है ।

पूर्वं जनेरपि मृतेरपि नायमस्ति
जातः क्षणं क्षणगुणोऽनियतस्वभावः ।
नैको जडश्च घटवत्परिदृश्यमानः
स्वात्मा कथं भवति भावविकारवेत्ता ॥१५५

यह देह जन्म के पूर्व या मृत्यु के बाद भी वर्तमान नहीं रहता । यह जन्म मृत्यु के मध्य बहुत कम समय के लिए आविर्भूत होता है एवं थोड़े समय के लिए ही रमणीक रूप में प्रकाशित होता है । यह जितने दिन वर्तमान रहता है उतने दिन भी एक रूप में नहीं रहता (अंग प्रत्यंगादि के ह्रास या वृद्धि के कारण विभिन्न परिणति को प्राप्त होता है); यह घटादि की भाँति दृश्य पदार्थ (घट

जिस प्रकार मिट्टी का परिणाम मात्र एवं क्षण स्थायी है, देह भी उसी तरह भूतसमूह का परिणाम है ) एवं जड़ (चैतन्य रहित) है । ऐसी देह किस प्रकार देह-मन की सकल परिणामों का ज्ञाता आत्मा हो सकती है ? (अर्थात् जड़देह कभी भी चैतन्यस्वरूप आत्मा नहीं हो सकती है; आत्मा देह से सर्वदा भिन्न है) ।१५५

देह आत्मा क्यों नहीं है ? उत्पन्न होती है, विनाश को प्राप्त होती है, थोड़े समय के लिए वर्तमान रहती है, विभिन्न परिणामों को प्राप्त होती है, विकारग्रस्त होती है, दृष्ट होती है एवं जड़ स्वभाव का होने के कारण देह आत्मा नहीं हो सकती ।

**पाणिपादादिमान्देहो नात्मा व्यङ्गेऽपि जीवनात् ।**
**तत्तच्छक्तेरनाशाच्च न नियम्यो नियामकः ॥**
**१५६**

किसी अंग के नाश होने पर भी मनुष्य जीवित रहता है तथा अंग नाश के साथ अंग की शक्ति नष्ट नहीं होती, (भीतर इसका अनुभव होता है) इस कारण हस्त पादादि युक्त देह आत्मा नहीं हो सकती । आत्मा देहादि के अधीन नहीं वरन् देहादि का परिचालक है ।१५६

**देहतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थादि साक्षिणः ।**
**स्वत एव स्वतः सिद्धं तद्वैलक्षण्यमात्मनः ॥१५७**

देह का एवं देह के धर्म-कर्म अवस्थादि का द्रष्टा सत्यस्वरूप आत्मा का देहादि से भिन्नता अति सहज भाव से प्रमाणित होता है ।१५७

देह का धर्म — जन्म, मृत्यु, स्थूलता, कृशता आदि ।

देह का कर्म — गमन, अवस्थान आदि ।

देह की अवस्था — बाल्य, यौवन आदि ।

आदि शब्द द्वारा गौर, कृष्ण आदि वर्ण समझना होगा ।

जो चेतन आत्मा देह को जानता है, वही आत्मा उसके ज्ञान के विषय देहादि से पृथक् है, इसे समझाने हेतु, किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं हैं ।

**शल्यराशिर्मांसलिप्तो मलपूर्णोऽतिकश्मलः ।**
**कथं भवेदयं वेत्ता स्वयमेतद्विलक्षणः ॥ १६८**

अस्थि द्वारा गठित, मांसलिप्त, मलपूर्ण एवं पापयुक्त यह देह किस प्रकार से देह से पृथक् एवं अन्य प्रमाणों की सहायता बिना ज्ञाता चैतन्य स्वरूप आत्मा हो सकता है ? १५८

जड़ देह और चैतन्य आत्मा कभी भी एक अभिन्न पदार्थ नहीं हो सकता । पूर्वोक्त श्लोक में यह कहा गया कि आत्मा देह नहीं है । इस श्लोक में कहा गया, देह कभी आत्मा नहीं हो सकता ।

पामर गण स्थूल देह में 'मैं और मेरा' ज्ञान करते हैं । इस मिथ्या ज्ञान का त्याग करना ही बुद्धिमान व्यक्ति का कर्त्तव्य है ।

**त्वङ्मांसमेदोऽस्थि पुरीषराशा-**
**वहंमतिं मूढजनः करोति ।**
**विलक्षणं वेत्ति विचारशीलो**
**निजस्वरूपं परमार्थभूतम् ॥१५९**

मोहग्रस्त व्यक्ति चर्म-मांस-चर्बी-अस्थि एवं विष्ठा से पूर्ण अपने स्थूलशरीर को 'मैं' समझता है; परन्तु विचारशील व्यक्ति सदा वर्तमान, देह से भिन्न अपने शुद्ध-चैतन्य स्वरूप को अनुभव करता है ।१५९

अधिकांश मनुष्य शरीर को 'मैं' समझते हैं इस कारण उनका ज्ञान यथार्थ होगा, ऐसी कोई बात नहीं ।

□

# ईसाई धर्म-प्रेम से जीने की सीख

राजेन्द्र कुमार गुप्त

दुनिया में वैसे तो कई धर्म हैं लेकिन मोटे तौर पर तीन बड़े मजहब हैं। ये है—ईसाई, इस्लाम और हिन्दू। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से हालाँकि दुनिया के सोच में बदलाव आया है और अनेक राष्ट्रों ने राजतंत्र और धर्मराज्य की जगह धर्म-निरपेक्ष राज्योंको मान्यता दी है लेकिन व्यावहारिक जीवन में यह बात पूरी तरह लागू हो चुकी है, संदेह का विषय है। लोकतांत्रिक और धर्म-निरपेक्ष राज्यों में धर्म और राजनीति को अलग-अलग रखने की चर्चाओं और बहसों का जोर पकड़ना इसका जीता-जागता सबूत है।

सिद्धांत और व्यवहार की इस रस्साकसी में एक मुल्क के अन्दर अलग-अलग मजहब के लोग किस प्रकार का जीवन जीते हैं, ये महत्वपूर्ण बात होती है। लेबनान और तुर्की जैसे देशों जहाँ कि इस्लाम और ईसाइयत बराबरी की होड़ में रहते हैं, में राजनयिक व्यवस्था में एक मजहब का प्रधानमंत्री और दूसरे मजहब का राष्ट्रपति रखने जैसी व्यवस्थाएँ हैं। लेकिन इस तरह के देश इक्के दुक्के हैं और ऐसे मुल्कों की संख्या ज्यादा बड़ी है जहाँ एक मजहब के लोग बहुसंख्यक और बकाया के अल्पसंख्यक हैं।

इस तरह की सामाजिकता वाले देशों में जहाँ वहाँ की सत्ता के लिए अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा करना जरूरी हो जाता है, वहीं अल्पसंख्यकों के लिए भी जरूरी हो जाता है कि वे वहाँ के बहुसंख्यकों के साथ किस तरह तालमेल रखते हैं। युद्ध और धार्मिक टकराव की स्थिति में परीक्षाएँ बड़ी कड़ी हो जाती हैं। भारत ने भी इन प्रश्नों का सामना किया है और फिलहाल तक संतोष-जनक उत्तर दिये हैं।

व्यक्ति ही क्यों शास्त्रीय संगीत की धुनें हमें महसूस ही नहीं होने देती कि हमारे अलग-अलग मजहब हैं। ऊपर से हमारी नस्ल की एकरूपता गंगा, सिंधु, कावेरी से कैसे अलग कर सकती है। हमारे पास अलगाव का कोई बहाना कैसे हो सकता है जब हमारी मातायें सगी बहनें हैं।

दुर्भाग्य से हम ईसाई भाइयों के साथ यह तादाम्य स्थापित नहीं कर पाते। हिन्दू-मुसलमानों के बीच का रिश्ता 'लव एंड हेट' का हो सकता है लेकिन ईसाइयों के साथ हिन्दू और मुसलमानों का रिश्ता एक विचित्र तरह की उदासीनता का है। संभवतः इस उदासीनता की सबसे बड़ी वजह यह है कि हमारी जेहन में कहीं बहुत गहरे अभी भी यह पड़ा हुआ है कि यह मजहब उन गोरों का है जिन्होंने हमें निर्ममता और धूर्ततापूर्वक ढाई सौ साल से भी ज्यादा गुलाम रखा।

नई दिल्ली स्थित कैथोलिक ईसाइयों के एक बड़े चर्च संगठन सी. बी. सी. आई. के डिप्टी सेक्रेटरी जनरल फादर कुटीनों की बात पर यकीन किया जा सके तो देश में चर्च के धर्माचार्यों यथा फादर, बिशप और ननों में एंग्लोइंडियन समुदाय के लोग नगण्य और इक्के-दुक्के ही हैं और ज्यादा-तर स्वदेशी लोग ही इन सम्मानित पदों पर हैं।

फादर के अनुसार चर्च के फादर का चुनाव भी रोम, लंदन या कहीं और की चर्च से संचालित

नहीं होता। यहीं के बिशप चुनाव के माध्यम से उसका चुनाव करते हैं। केवल नये फादर के चुनाव की औपचारिक सूचना पोप के कार्यालय भेज दी जाती है। यहाँ यह उल्लेख करना जरूरी होगा कि देश की ढाई फीसदी ईसाई आबादी में कैथोलिक पौने दो फीसदी के लगभग हैं।

ईसाई भाइयों के साथ दूसरा संशय इस बात को लेकर उठाया जाता है कि उनकी कई मिशनरी और धर्माचार्य नौकरी और पैसे का लोभ देकर देश की अनुसूचित जातियों और जनजातियों का धर्मांतरण कराते हैं। इस संबंध में तोहमत लगाने वाले उत्तर पूर्वी राज्यों, तमिलनाडु और केरल आदि का उदाहरण देते हैं। इस संबंध में दिल्ली स्थित मैथोडिस्ट चर्च के प्रीस्ट श्री एस. एस. सिंह का कहना है कि भारतीय समाज में इस तरह की भ्रांतियाँ जरूर हैं लेकिन बेबुनियाद हैं। हम ईसाई धर्म स्वीकार करने वालों को स्पष्ट कर देते हैं कि यदि वे नौकरी या शादी आदि या लड़की के लोभ में ईसाई धर्म स्वीकार करना चाहते हैं, तो उतावले न हों। हम उनकी कोई भी मंशा पूरी नहीं कर सकते।

भारतीय समाज ईसाइयों के साथ जिस तीसरी बात को लेकर परहेज करता रहा है वह है 'ईट, ड्रिंक एंड बी मेरी' अर्थात् खाओ, पिओ और मौज करो की जीवन शैली का। आम धारणा यह रही है कि भारत के ईसाईयों में भी पश्चिम की तरह लड़के लड़की का शादी के पहले घूमना-घामना और यहाँ तक कि शादी जैसे संबंध बनाना भी बुरा नहीं ,माना जाता। ईसाई लोग घर में आपस में बैठ कर शराब-पी सकते हैं, दूसरों की बाहों में बाहें डाल कर नाच सकते हैं। उनके यहाँ शादी के पहले प्रेम जरूरी है। हालांकि आज के शहरी और औद्योगिक युग के माहौल में अब अनेक भारतीय परिवारों के लिये भी इनका ज्यादा महत्व नहीं है लेकिन चर्च या धर्माचार्य इन सब बातों को प्रोत्साहन देते हों, ऐसी बात नहीं।

फादर कुटीनों तो इस सवाल से ही भड़क जाते हैं कि चर्च का पीने-पिलाने से लेना-देना है। वे इसे व्यक्ति का निजी मामला मानते हैं और उसका धर्म से जुड़ाव इंकार करते हैं। दूसरी ओर प्रीस्ट सिंह के अनुसार पीने से गिरजों का कोई लेना-देना नहीं। पीने वाले तो बहाने की तलाश में रहते है। देखा यीशु मसीह का जन्मदिन है, क्रिसमस अथवा मर्दमशुमारी का नया दिन है, पहली जनवरी है अथवा शादी ब्याह है तो और खुल कर पीने लगे।

शादी-ब्याह के मामले में श्री सिंह का कहना है कि भारत के ईसाइयों में बकाया समाज की तरह अभी भी शादियाँ 'अरेंजड' होती हैं, इसीलिये यह धारणा बन गयी कि हमारे यहाँ हर विवाह प्रेम विवाह ही होता है, गलत है। उनकी राय में संभव है ईसाई समाज में बकाया भारतीय समाज से थोड़ा ज्याद खुलापन हो, लेकिन मर्यादाओं से बाहर हो तो ऐसी भी बात नहीं। फादर कुटीनों के शब्दों में ब्रह्मचर्य और सात्विक जीवन का ईसाइयत में बहुत महत्व है। चर्च के फादर, बिशप और नन पूर्ण ब्रह्मचर्य जीवन जीते हैं।

भारत के ईसाइयों के साथ शेष समाज की विचित्र उदासीनता का चौथा कारण यह भी रहा है कि उनके शिक्षण संस्थानों अथवा अस्पतालों से यदि बकाया समाज का रिश्ता न हो तो पता ही न चले कि भारत में वे भी रहते हैं। वे कभी अपना जायज-नाजायज दुखड़ा रोते दिखाई नहीं पड़ते। उदाहरण के लिए कैथोलिक ईसाईयों के सबसे बड़े धर्माचार्य पोप ने गर्भपात के खिलाफ अमरीका के राष्ट्रपति रेगन से भी अपना विरोध दर्ज कराया लेकिन भारत में किसी भी ईसाई समुदाय ने ऐसा विरोध दर्ज नहीं कराया।

इस सवाल के उत्तर में दिल्ली के बैपटिस्ट गिरजे के बड़े पादरी जे. डी. मैसी के आधिकारिक प्रवक्ता का कहना है कि उनके धर्मग्रंथ बाइबिल में लिखा है कि अवाम को हुकूमत के खिलाफ नहीं

जाना चाहिए। मैथोडिस्ट चर्च के प्रीस्ट एस. एस. सिंह भी किनाराकसी करते हुए कहते हैं कि हम तो भ्रूण हिंसा ही नहीं हरेक तरह की हिंसा के खिलाफ हैं फादर कुटीनों को भी राजनीतिकरण से बचाने के नाम पर पिंड छुटाने की कोशिश करते हैं। लेकिन ऐसा करके शायद वे यह भूल जाते हैं कि उनका जरूरत से ज्यादा कटा-कटा रहना कई बार देश को वह ताकत देता महसूस नहीं होता जो बहुत जरूरी है। देश की एकता, अखंडता के लिए जरूरी है कि जिस तरह दीवाली की मिठाइयाँ, ईद की सिवइयाँ सब मजहब के भाइयों में बाँट कर खायी जाती हैं, वैसे ही क्रिसमस का प्रसाद सब लोगों में बाँट कर खाया जाये। भारत आध्यात्म भूमि है। यहाँ एक नहीं अनेक धर्म, सम्प्रदाय उपजे, फले और फूले। हिन्दू, सिख, बौद्ध, जैन और कहा तो यहाँ तक जाता है कि इस्लाम और ईसाइयत की जड़ें भी यहीं की हैं। इसी प्रकार की एक दंतकथा प्रभु यीशु के बारे में प्रचलित हैं। कहते हैं कि यीशु कश्मीर के एक मरियमपुर गांव में कई दिन तक छिपे ही नहीं रहे बल्कि यहीं अध्यात्म विद्या को अंगीकृत कर उन्होंने सारी दुनिया को प्रभु का राज्य बनाने की ठानी। कुल मिला कर कहा जा सकता है कि अध्यात्म भूमि भारत पर अलग-अलग मजहब बगिया के रंग-बिरंगे फूलों की तरह खिले रह सकते हैं पूरे चमन की शोभा और शक्ति बढ़ाये रह सकते हैं।

# अध्यात्म मार्ग सहज भी, कठिन भी

ब्रह्मचारी विश्वेश्वर

अध्यात्म मार्ग सहज भी है और कठिन भी। कठिनाई तो तब है जब साधक में ईश्वर के प्रति विश्वास की, श्रद्धा की कमी होती है। ईश्वर बड़ा ही दयालु है। उसके दरबार में न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। वहाँ तो समभाव है, समदृष्टि है। गीता के नवम अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में भगवान ने कहा है-

**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः,**
**ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥**

अर्थात् मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय। परन्तु जो भक्त मुझको भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।

आवश्यकता है मात्र सच्चे भाव की। हर्ष, आमर्ष, भय, उद्वेग तथा आकांक्षा से रहित हो विश्वासपूर्वक सच्चे भाव से जो उससे हाथ फैला-कर माँगता है, निराश नहीं होता। इच्छित वस्तु उसे अवश्य मिलती है।

अध्यात्म मार्ग ही ईश्वरीय मार्ग है। इस मार्ग पर चलने वाला कभी निराश नहीं होता। हर प्रयत्न उसका सार्थक होता है। आवश्यकता है आशा-विश्वास के साथ मार्ग पर चलते रहने की। पथरीली, कंटीली, उबड़ खाबड़ राहें उसे विचलित करती हैं अवश्य। पर, जो विचलित नहीं होता और सतत् ईश्वर से मिलने के लिए एकाग्रभाव से बढ़ता जाता है, उसे वह मिल ही जाता है।

'ऐसा होना चाहिए-ऐसा नहीं होना चाहिए' इस बात को मनुष्य पकड़ लेता है। यही बन्धन है, और इसी को कामना कहते हैं। गीता में कामना त्याग की जो बात कही गयी है उसका तात्पर्य है — ऐसा हो जाय-ऐसा न हो जाय- ये दोनों छोड़ दे। भगवान् का संकल्प सत्य, नित्य और स्वतः सिद्ध होता है। हमारे मन में यह बात रहनी चाहिए कि— जैसा भगवान् चाहे, वैसा होना चाहिए और जैसा भगवान नहीं चाहें, वैसा नहीं होना चाहिए। भगवान से जो कुछ नहीं चाहता भगवान उसके ऋणी हो जाते हैं।

अध्यात्म मार्ग पर चलने वाले को कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है। इन नियमों का उल्लेख हमारे शास्त्रों में मिलता है। नियम पालन का अर्थ है नियमों के पार जाना अर्थात् नियमों से मुक्त होना। नियम यानी सीढ़ी। जिस प्रकार सीढ़ी छत

पर चढ़ने-उतरने के लिए बनायी जाती है, ठीक इसी प्रकार यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आदि भी परमतत्व यानी परमात्मा रूपी छत पर चढ़ने की सीढ़ी है।

पथिक को यानी साधक को चाहिए कि वह अभ्यास और सत्संग करता रहे। अभ्यास और सत्संग ही वह साबुन है जिनसे हृदय पर पड़ी धूल की परतें (काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष) साफ की जा सकती है। विषय रूपी धूल की परत को बिना हटाये आत्मज्ञान सम्भव नहीं। अष्टावक्र गीता का निम्न श्लोक मननीय हैं जो जनक के प्रति आत्मविद्या प्राप्ति हेतु साधन रूप में अष्टावक्र द्वारा कहा गया है —

**'मुक्ति मिच्छसिचेत्तात विषयान् विषवत्यज।**
**क्षमार्ज्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद् भज॥**

अर्थात साधक को चाहिए कि यदि वह मुक्ति चाहता है तो विषयों को विष के समान छोड़ दे और क्षमा, आर्जव, दया, सन्तोष और सत्य को अमृत के समान सेवन करें।

ऐसे अभ्यास से ये धूल की परतें जो हृदय पर जमी हैं, हटेंगी और हटते ही आपका हृदय सही रूप में दर्पण का स्थान लेगा। ऐसे ही हृदय रूपी दर्पण में साधक अपने वास्तविक स्वरूप को देख पाता है।

आत्मतत्व बड़ा ही सूक्ष्म है। बाह्य चक्षु से इसे देखा नहीं जा सकता। आन्तरिक दिव्य नेत्र खुल जायँ तभी आत्मदर्शन सम्भव है। यह आन्तरिक दिव्य नेत्र अपने आप नहीं खुलता बल्कि खुलवाना होता है। यह सब कुछ गुरु-कृपा या उनके ज्ञान प्रकाश से ही सम्भव है। इस सम्बन्ध में गीता के एकादश अध्याय का निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

**'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।**
**दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमेश्वरम्॥**

अर्थात् मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने में निःसंदेह समर्थ नहीं है इसी से मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ, इससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देख।

तत्व जो तत्वों से भी परे है और नेह नदी के उस पार है, को पाने के लिए नदी के तट पर हमें जाना होगा और वंशी की टेर जो नित ध्वनित हो रही है उससे हृदय पूरित कर हमें नदी में फिसलने या डूबने के भय से मुक्त हो नदी पार करनी होगी। यदि पैर फिसल ही जाय या डूबने की स्थिति आ जाय तो दोनों स्थितियों में हाथों में लड्डू ही समझो। फिसलने की स्थिति में वही मालिक तेरी अँगुलियों को पकड तुम्हें सहारा देगा और डूबने की स्थिति में तुम्हें पार उतारेगा।

इस तरह साधक प्रेम की तरंगों में जब डूब जाता है तो हर तरंग में अपने मालिक की ही छवि उसे दीखती है। वह मालिक को तो देखता ही है, स्वयं भी वह तदरूपता को प्राप्त करता है। यही आत्मज्ञान है। यह ज्ञान तब होता है जब साधक सब कुछ खो देता है। सब कुछ खोने का तात्पर्य है सम्पूर्ण भाव से समर्पण/समर्पण किसका और किसमें यह जानने की बात है। गीता के बारहवें अध्याय के चौदहवें श्लोक में भगवान ने कहा है —

**मय्यर्पितमनो बुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।'**

अर्थात् मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धि वाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

परमात्मा पर समर्पण होने वाला परमात्मा ही हो जाता है। परमात्मा तो है ही, परन्तु उसको परमात्मा होने का अनुभव नहीं है, वह हो जाता है। पत्ता वृक्ष ही है, पर पत्ते को वृक्ष होने का अनुभव नहीं है। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी-पदार्थ परमात्मा का ही स्वरूप है, परन्तु उन सबको परमात्मा होने का अनुभव नहीं। क्रिया में दोष भी तभी तक रहता है जब तक उसका अनुभव नहीं। परमात्मा का अनुभव होते ही अपूर्व शक्ति आ जाती है और असाधारण शक्ति के आ जाने से शुद्ध यानी कर्तृत्व तथा अहंकार से रहित मन-बुद्धि और इन्द्रियाँ नीति नियमों के विरुद्ध कोई ऐसा कर्म नहीं करती जो सदोष हो। वह संतृप्त हो यानी अपने आप में संतुष्ट हो बरतता है। जितनी

दूर में परमात्मा की व्यापकता है उतनी ही दूर में अपनी व्यापकता उसे अनुभव होने लगती हैं।

समझने की बात यह है कि 'मैं हूँ' में जो 'हूँ' है वह शरीर को लेकर है। इस 'हूँ' में 'है' रूप से परमात्मा ही है। तू है, यह है, वह है - सब जगह परमात्मा ही 'है' रूप में विद्यमान है। साधक यदि 'हूँ' का त्याग कर दे अर्थात 'मैं' (अहंता को मिटाकर सामान्य सत्ता में स्थित हो जाय (जो वास्तव में है) और 'है' रूप से विद्यमान परमात्मा को अपना मान ले तो काम बन जाय। ऐसा अभ्यास होने पर जो क्षेत्र को देखता था वही अपने में प्रभु को देखता है यानी जिसका अंश हैं, उसी को देखता है। अपने अंशी को देखते ही वह अंशी में मिल जाता है और इस तरह से उसे अपनी व्यापकता अनुभव होने लगती है।

चूँकि पदार्थ अवस्थानुसार आते और जाते हैं। इसलिए अध्यात्म मार्ग का पथिक इन पदार्थों के भोगने में, जुटाने में या हटाने में अपनी शक्ति खर्च नहीं करता। कारण भोग और संग्रह दोनों ही अपने तक नहीं पहुँचते। भोगों से संबंध जन्य सुख होता है और संग्रह से अभिमानजन्य सुख। वास्तविक सुख तो स्वाधीन होने ही में है। संसार और शरीर के आश्रय का त्याग ही स्वाधीनता है। अतः अध्यात्म मार्ग का पथिक निर्विचार में साक्षी होकर रहने का अभ्यास करता है। इस अभ्यास से उसके संकल्प और विकल्प निर्जीव हो जाते हैं यानी दोनों उसके अधिकार में आ जाते हैं। इस तरह साधक सभी तापों को, कष्टों को सहर्ष कर्त्तव्य का प्रसाद समझ कर सहता हुआ अपने यथार्थ स्वरूप का बोधकर अपनी आध्यात्मिक यात्रा को पूरा करता है।

साधक को चाहिए कि वह बदलने वाले भावों, वृत्तियों और क्रियाओं में स्थित न हो। कारण बदलने वाले में जब हम स्थित रहते हैं तो सुख-दुःख होता है। गीता के तेरहवें अध्याय के श्लोक संख्या बीस की यह पंक्ति ध्यातव्य है —

**'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।'**

कैसा पुरुष सुख-दुःख का अनुभव करता है तो गीता कहती है —'प्रकृतिस्थ' यानी बदलने वाले में यानी शरीर और संसार में जब तक हम स्थित हैं। काम, क्रोध, हर्ष, राग, द्वेष आदि वृत्तियाँ मन में पैदा होती है और जब उनमें हम स्थित हैं तब पराधीन हैं और सुख-दुःख दोनों में यदि समान स्थिति है तो हम स्वरूप हैं। गीता के चौदहवें अध्याय में यह बात कही गयी है कि **'समदुःखसुखः स्वस्थः'**।

अतः निष्कर्ष रूप में साधक को चाहिए कि वह जानने में आने वाली तथा बदलने वाली वस्तु के साथ अपनी एकता न माने। बदलने वाले में स्थित न होकर अपने स्वरूप में जो सम्पूर्ण को जानता है, स्थित हो जाय।

आध्यात्मिक यात्रा सचमुच आनन्द की यात्रा है। यहाँ प्रसन्नता ही प्रसन्नता है। यात्री जब तक अपने घर से दूर है तब तक वह थका हुआ-सा दीखता है। पर, घर में आते ही उसकी सारी थकान मिट जाती हैं और पुनः शक्ति को प्राप्त कर लेता है। इसी तरह से जीव जब तक परम घर (अखंड) से दूर है तब तक नानाविध दुश्चिन्ताओं से घिरा होता है और उसकी यह स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक हृदय में स्थित कर्तृत्व या अहंकार को प्रेम रूपी सूई से चीरकर परमातमा रूपी धागे में पिरो नहीं देता यानी अपने को परमात्मा में समर्पित नहीं कर देता। समर्पण के पश्चात् व्यक्ति-व्यक्ति नहीं रह जाता वह शक्ति हो जाता है और इस तरह परमात्मा रूप हो अपनी आध्यात्मिक यात्रा पूरी करता है।

□